युक्त-प्रान्त की विभूतियाँ

लेखक

परिपूर्णानन्द वर्म्मा

मैकमिलन ऐण्ड कम्पनी, लिमिटेड
कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, लन्दन
१९४[illegible]

प्रस्तावना

संयुक्त प्रदेश आगरा व अवध की प्राचीन भौगोलिक परिभाषा करना कठिन है। सन् १८५७ के पहले यह "प्रान्त" ही नहीं था और इसके तत्कालीन रूप का नाम उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश था। उस पुराने प्रान्त में अवध इत्यादि शामिल ही नहीं थे।

आज इस प्रान्त के अन्तर्गत जो भूमि तथा क्षेत्रफल है, उसको समुचित रूप से व्यक्त अथवा प्रकट करने के लिये, अनेक विद्वानों का मत है कि प्रान्त का नाम बदल कर "हिन्द प्रान्त" या "सूबा हिन्द" कर दिया जाय। इस मत का समर्थन दिन प्रति दिन बढ़ता ही जा रहा है।

अस्तु, वर्तमान प्रान्त के क्षेत्रफल के अन्तर्गत संसार का बहुत कुछ इतिहास छिपा हुआ है। प्राचीन भारतीय सभ्यता के इस केन्द्र में ही राम और कृष्ण, युधिष्ठिर तथा अर्जुन, वशिष्ठ, वेद-व्यास, कपिल, कणाद, अनेक प्रसिद्ध नरेश तथा महर्षियों ने जन्म लिया और संसार को जो दान दिया है, उसकी अमर कहानी है। काशी में कबीर ने, राजपुर में तुलसीदास ने तथा आज के पाँच हज़ार वर्ष पहले काल्पी में वेद-व्यास ने जन्म लिया था। पर, इन सब महापुरुषों की अमर गाथा सुनाने के लिये बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखना पड़ेगा।

हमें अपनी पुस्तक में आधुनिक भारत—नवीन संयुक्त-प्रान्त की विभूतियों का परिचय कराना है। यह नवीन प्रान्त सन् १८५७ के ग़दर के पश्चात् बना है—और हमने इसी ग़दर के बाद के (कुछ महापुरुष उससे पहले पैदा हो चुके थे पर उस क्रान्तियुग में जीवित थे) की रचना के समय से ही—विशिष्ट व्यक्तियों का परिचय कराया है।

धर्म, शिक्षा, राजनीति, उद्योग-व्यवसाय इत्यादि सभी क्षेत्रों में, इस प्रान्त की उर्वर भूमि ने एक से एक महान पुरुष उत्पन्न किये हैं जिन्होंने समूचे देश की सेवा

की है—कल्याण किया है—जो किसी नगर या प्रान्त की ही नहीं, देश भर की विभूति हैं। ऐसे महापुरुषों के त्याग, तत्परता, सत्यनिष्ठा तथा लगन ने एक ऐसा आदर्श उपस्थित कर दिया है जो भावी सन्तानों के मार्ग को प्रकाशित करता रहेगा। इस ग्रन्थ में जिन विभूतियों का ज़िक्र है, उनमें से बहुत सी हमारे बीच में आज नहीं हैं—पर उनके जीवन का हरएक क्षण इतने काम का रहा है कि संसार से विदा होते समय उन्हें अपने आदर्श "कर्त्तव्य-धर्म-पालन" पर सन्तोष रहा होगा और वह सचमुच "शान्ति की स्थिर निद्रा" में सो गये होंगे। हम को भगवान से प्रार्थना करनी चाहिये कि हमारा जीवन भी उतना ही सफल हो।

इस ग्रन्थ में हरएक विचार, सम्प्रदाय तथा समुदाय के लोगों का चरित्र-चित्रण है और यह चेष्टा की गयी है वह सर्वथा निष्पक्ष हो। हमें हरएक महापुरुष से शिक्षा ग्रहण करनी है—किसी प्रकार के विचार या मतभेद से हम ज्ञान-पिपासुओं को क्या सरोकार! यह हो सकता है कि मेरी असावधानी से कोई महत्वपूर्ण व्यक्ति छूट गया हो या मेरी दृष्टि में किसी की महत्ता का अनुमान ग़लत लगा हो—मैं दोनों बातों के लिये क्षमा-प्रार्थी हूँ।

मैंने किसी विभूति की पूरी जीवनी नहीं लिखा है—चरित्र-चित्रण के लिये, एक छोटे-से ग्रन्थ में जितना लिखा जा सकता है, उतना ही लिखा गया है। फिर भी, सुधार की काफ़ी गुञ्जायशें हो सकती हैं।

पाठक इस पुस्तक को ध्यान पूर्वक पढ़ें। यह ग्रन्थ संयुक्त प्रान्त की विभूतियों का—महान् और विख्याततनामा पुरुषों का चरित्र चित्रण ही नहीं—हमारे संयुक्त प्रान्त के पिछले ७५ वर्षों का इतिहास भी है। पाठक इसकी त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करें ताकि पुस्तक के दूसरे संस्करण में सुधार हो सके।

जालपादेवी, काशी
मार्च १९४१

परिपूर्णानन्द वर्म्मा

विषय-सूची

विद्वान् और पण्डित

सुधारक

राजनैतिक

पत्रकार तथा व्यवसायिक

बापूदेव शास्त्री

भारत धर्म-प्रधान देश है। इसकी अधिकांश विभूतियाँ धार्म्मिक वातावरण में ही विकसित और पल्लवित हुई हैं। रघु, राम, कृष्ण, कपिल, कणाद, गौतम, बुद्ध, महावीर तीर्थङ्कर, अशोक, हर्षवर्द्धन, विक्रमादित्य इत्यादि सभी प्राचीन महापुरुष एक धार्म्मिक वायुमण्डल में फले-फूले और समय पाकर धार्म्मिक श्रोत द्वारा ही अपनी अपनी विशेषता को प्रतिपादित कर सके।

ऐसे ही धार्म्मिक परिवार और समाज में, महाराष्ट्र प्रान्त के पूना नगर में पं० सीताराम नामक एक कर्मकाण्डी 'ऋग्वेदी' ब्राह्मण रहते थे। इनकी उम्र ढल चली पर कोई सन्तान न हुई। इससे इनकी स्त्री सत्यभामा को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने नृसिंह भगवान की उपासना प्रारम्भ की और कहते हैं कि उन्हींकी प्रसादि से उनको एक पुत्र उत्पन्न हुआ। बुढ़ापे की - और खासकर एकमात्र सन्तान बड़ी लाड़ली होती है। अतएव यह पुत्र अपने माता-पिता के नेत्रों का तारा था। इसका नाम नृसिंह भगवान के नाम पर नृसिंह ही रखा गया था। किन्तु, प्यार से इसको 'बापू' भी कहते थे। अतः इस बालक का नाम "बापू" ही प्रसिद्ध हो गया और वे बापूदेव शास्त्री के नाम से विख्यात हुए।

ई० सन् १८२१ की पहली नवम्बर को बापूदेव का जन्म हुआ। बचपन से ही इनकी बुद्धि की प्रखरता का आभास मिलने लगा। विद्या की ओर बड़ी रुचि थी। जिस किसी को पढ़ते देखते उसी के पास बैठ जाते। बहुत ही छोटी उम्र में अक्षर-बोध हो गया और बारह वर्ष की उम्र तक संस्कृत का अच्छा खासा ज्ञान हो गया।

इनकी बचपन की शिक्षा नागपुर की पाठशाला में हुई। जिस उम्र में साधारण बालक ठीक से लिख-पढ़ भी नहीं सकता, उस उम्र में इन्होंने गणित और साहित्य का, महाराष्ट्र-भाषा के माध्यम द्वारा अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। गणित की ओर इनकी विशेष रुचि थी और बीजगणित (अलजेब्रा) और रेखागणित (ज्यामेट्री) के वे पण्डित हो गये।

संसार की प्रत्येक प्रतिभा का विकास काल और कारण से होता है। बापूदेव की प्रतिभा के विकास के लिये भी एक बड़ा सहारा मिल गया और उनको सहारा देने वाला व्यक्ति भी बापूदेव के समान ही अमर हो गया। मध्यप्रान्त के सिहोरा राज्य में उन दिनों लान्सलिट् विल्किल्सन नामक विद्या-व्यसनी पोलिटिकल एजेण्ट थे। उन्होंने बालक बापूदेव की अद्भुत बुद्धि और गणित-शास्त्र में उनकी आश्चर्य-जनक गति को परख लिया और वे इस बालक पर इतने रीझ गये कि स्वयं उसकी शिक्षा का प्रबन्ध करने लगे। उसे सिहोरा नगर की संस्कृत पाठशाला में प्रसिद्ध ज्योतिषी और गणितज्ञ पं० सेवाराम के पास शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजा। यहाँ पर इन्होंने दो वर्ष तक शिक्षा पाई और अपनी लगन, धुन, विद्या-व्यसन, ज्ञान-पिपासा तथा परिश्रम द्वारा भारत तथा पाश्चात्य देशों के गणित और ज्योतिष-शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित हो गये। हम लोग ज्योतिष का अर्थ जन्म-कुण्डली देखना और फलाफल विचार ही लगाते हैं। पर यह भ्रम है। ज्योतिष शास्त्र भारत का सब से पुराना और पक्का शास्त्र है। इसके द्वारा आकाश और पृथ्वी की समूची गति का ज्ञान हो जाता है। बापूदेव शास्त्री अपने काल में इसी गणित-ज्योतिष में भारत के सब से बड़े विद्वान थे। उन्होंने अपना जीवन संयुक्त-प्रान्त में ही बिताया और लाख लोभ-लालच होने पर भी, इस प्रान्त को छोड़ना अस्वीकार कर दिया। हमारे

र गर्व है। देशी-विदेशी गणित-शास्त्र का ऐसा
केरला ही उत्पन्न हुआ।
वर्ष की उम्र में ही बापूदेव की विद्या की धाक जम
रे देश में घोर अविद्या और साथ ही जड़ता छ
विदेशी सभ्यता और विद्या के सम्पर्क में नया-न

बापूदेव शास्त्री

एव भारतीय हरएक विदेशी वस्तु को बड़ी शंका
ारतीय पण्डित विदेशी विद्या को बहुत ही निन्द
थे। बापूदेव ने विदेशी ज्ञान-भण्डार से हीरे ढूँढ़ नि
ोज कर विदेशी गणित-शास्त्र की गहराई और गम
र प्रेमी हो गये। वे जानते थे कि हमारे देश में

विद्या के प्रति अनादर का कारण अज्ञान ही है अतएव वे अपने देश और विदेश के ज्ञान का सम्मिश्रण कर पूर्ण गणित विज्ञान" का प्रचार करना चाहते थे।

इस समय भारत में ऐसे अनेक विद्वान अंग्रेज़ थे जो भारतीय विद्या की महत्ता को समझते थे और यहाँ रह कर ज्ञान प्राप्त करने के लिये बड़े उत्सुक थे। वे ऐसे विद्वानों की तलाश में थे जो उनको 'म्लेच्छ' समझ कर, उनको विद्या-दान करने से न हिचके। ऐसे विद्वान अंग्रेज़ों का ध्यान संस्कृत-विद्या के केन्द्र काशी की ओर था और वे काशी की गलियों में विद्या के प्रेम से भटका करते थे।

ऐसे लोगों के भाग्य से बापूदेव को अपनी प्रतिभा का प्रसाद देने का मौक़ा मिल गया। काशी की संस्कृत पाठशाला (जो आज गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज के नाम से भारतवर्ष का सर्व-प्रधान संस्कृत विश्वविद्यालय है) सरकारी देख-रेख में थी। इसके निरीक्षण के लिये कलकत्ता के फ़ोर्ट विलियम कालेज के सेक्रेटरी कैप्टेन जी० टी० मार्शल, पं० जयनारायण 'तर्क पञ्चानन' नामक प्रसिद्ध विद्वान के साथ काशी आये। आप दोनों ने ३ जनवरी, १८४१ को रिपोर्ट दी कि पाठशाला के लिये एक प्राकृतिक दर्शनशास्त्र तथा संस्कृत-गणित पढ़ाने वाला अध्यापक चाहिये। ऐसे विद्वान अध्यापक की तलाश होने लगी। यह ख़बर सिहोरा में विलकिन्सन साहब को मिली। उन्होंने तुरत बापूदेव शास्त्री की सिफ़ारिश लिख भेजा। कमेटी ने बापूदेव की नियुक्ति स्वीकार की। बापूदेव शास्त्री नागपुर में स्व-जनों से मिलने के लिये आये। किन्तु, इनके काशी जाने के पहले ही, यानी १३ नवम्बर १८४१ को, विलकिन्सन साहब का देहान्त हो गया। पर, उन दिनों नागपुर के राजा के यहाँ

विलकिन्सन के भाई मेजर टी० विल्किन्सन सरकारी एजेण्ट थे उन्होने तुरत सब प्रबन्ध कर दिया और बापूदेव काशी चले आये

१५ फ़रवरी, १८४२ को बापूदेव ने पाठशाला में काम करना शुरू किया और यहीं से, इसी समय से उनका गौरव और यश संसार में फैलना शुरू हुआ। भारतीय तथा विदेशी गणित के अध्यापन तथा पठन के लिये पुस्तकों का नितान्त अभाव था। विद्यार्थियों को मौखिक शिक्षा देनी पड़ती थी और वह सम्यक् ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते थे। इस बड़ी कठिनाई को देख कर बापूदेव ने न केवल नये ढंग से शिक्षा देना ही शुरू किया, बल्कि वे ग्रन्थ लिखने का भी कार्य करने लगे और उनके लिखे ग्रन्थ आज संस्कृत और हिन्दी साहित्य के वे हीरे हैं जिनकी क़ीमत रुपयों में नहीं आँकी जा सकती। पाठशाला के प्रधान गणित-अध्यापक पं० लज्जाशङ्कर की मृत्यु के उपरान्त बापूदेव शास्त्री ही प्रधान गणित-अध्यापक नियुक्त हुए और ४० वर्ष तक इस पद को सुशोभित करते रहे। संस्कृत तथा हिन्दी में गणित, रेखागणित तथा बीजगणित लिखने वाले वे प्रथम विद्वान् थे और मातृ-भाषा मराठी होने पर भी संयुक्त-प्रान्त की हिन्दी ही उनकी मातृ-भाषा बन गयी।

शास्त्रीजी लिखित कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थोंके नाम देदेना उचित होगा :—

१—त्रिकोणमिति तन्त्र। २—सायनवाद। ३—प्राचीन ज्योतिषाचार्याशय वर्णन ४—अष्टादश विचित्र प्रश्नानां संग्रहं सोत्तरं। ५—तत्वविवेक परीक्षा। ६—दशमलवादि बोधकं। ७—व्यक्त गणितं। ८—मानमन्दिरस्थस्ययन्त्र वर्णन। ९—हिन्दी व्यक्त गणित। १०—हिन्दी बीज गणित। ११—सायनवादानुवाद। १२—सूर्य सिद्धान्त—

इनकी लिखी पुस्तकों का कहाँ तक नाम गिनाया जाय। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की टीकायें कीं। अनेक ग्रन्थों की सरल व्याख्याएँ प्रकाशित कीं।

शास्त्री जी को लिखना बहुत पड़ता था। भारत के "प्राचीन गणित का उद्धारक" की उपाधि से यदि इन्हें भूषित किया जावे तो अत्युक्ति न होगी। भारत के प्राचीन गणित की सबसे अधिक धाक इन्होंने सन् १८५८ में जमाया। इनका एक लेख बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के सन् ५८ के नं० ३ पर्चे में छपा था जिसमें भास्कराचार्य के ग्रन्थ 'सिद्धान्त शिरोमणि' से यह सिद्ध कर दिया गया था कि भारतीय चल-गणित भी भली प्रकार जानते थे। बनारस के विद्वानों की एक "वादाविवाद सभा" थी। उसमें सन् १८६२-१८६५ के बीच बापूदेव के कई व्याख्यान हुए थे। "फलित का विचार", "सायनवाद" "मानमन्दिर वर्णन" आदि उनके व्याख्यान छपे भी हैं और वे साहित्य तथा विज्ञान में अत्यन्त महत्वपूर्ण निबन्ध समझे जाते हैं।

उन दिनों काशी में अनेक "वर्ष-पञ्चांग" प्रकाशित होते थे। सभी पञ्चांग अपने अपने ढंग के भिन्न-भिन्न होते थे। उनमें बड़ा अन्तर होता था। महाराजा बनारस के आग्रह से श्री बापूदेव ने देशी-विदेशी गणित के सम्मिश्रण से संवत् १९३० में एक शुद्ध पञ्चांग बनाया। इसके बनाने में ब्रिटिश नॉटिकल अलमैनक से बड़ी सहायता ली गयी। यह पञ्चांग सर्वश्रेष्ठ समझा गया। पर द्वेष-वश पण्डितों ने इसका बड़ा विरोध किया। अन्त में इसको ही हिन्दुओं का सर्वश्रेष्ठ और प्रामाणिक "पत्रा" मानना पड़ा।

पं० बापूदेव की गणना भारत के सर्वश्रेष्ठ विद्वानों में होती थी। अंग्रेज़ विद्वान् इनकी बड़ी क़द्र करते थे। सन् १८४४ में बनारस संस्कृत कालेज का अंग्रेज़ी और संस्कृत विभाग एक कर दिया गया और संस्कृत के उत्कट विद्वान् जॉन मूर प्रिंसिपल नियुक्त हुए। उनके बाद जेम्स आर० बैलेंटाइन प्रिन्सिपल हुए। ये दोनों बापूदेव की इतनी क़द्र करते

थे कि इनको देवता के समान पूजते थे। जब कभी कोई अड़चन पड़ती, बापू से सहायता ली जाती। वैलेंटाइन के समय में "इङ्गलिश जर्नल आव् एजुकेशन" में एक लेख छपा जिसमें एक अंग्रेज़ ज्योतिषी ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि चन्द्रमा स्थिर है। बापूदेव को इस लेख की सूचना दी गयी और उन्होंने तुरत उस कथन की मूर्खता सिद्ध कर दी।

सन् १८७८ में मेजर ईल ने एक ताम्र-पत्र के सहारे यह सिद्ध किया कि ई० सन् ८८६ की ३ अप्रैल को खग्रास सूर्य ग्रहण के अवसर पर राजा परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने भूमि दान की थी। अतएव महाभारत काल ८८६ सन् हुआ। इस अद्भुत खोज से बड़ी ही सनसनी फैली। पर बापूदेव ने अपनी गणित से यह सिद्ध कर दिया कि ३ अप्रैल, ८८६ को कोई खग्रास सूर्य-ग्रहण नहीं हुआ था अतएव मेजर ईल का प्रमाण ग़लत है। बापू के इस तर्क से भारतीय बड़े प्रसन्न हुए थे।

सन् १८७६ में प्रिंस आव् वेल्स (एडवर्ड सप्तम) भारत आये थे। उन्होंने बम्बई के गवर्नर के साथ, बापूदेव शास्त्री से बहुत देर तक बातचीत की और उनका बड़ा आदर किया। १ ली जनवरी १८७८ को दिल्ली-दरबार में भारत के जिन पचास महापुरुषों को "सी० आई० ई०" की उपाधि मिली थी, उनमें बापूदेव भी थे। सन् १८८७ में, महारानी विक्टोरिया के राज्य के पचास वर्ष पूरा होने के उपलक्ष में इनको "महामहोपाध्याय" की उपाधि मिली थी। ४ जुलाई, १८६४ को लन्दन की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने तथा सन् १८६८ में बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने इनको अपना 'ऑनरेरी सदस्य' निर्वाचित कर आदरित किया था। इसके अतिरिक्त, इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना के समय वे उसके 'फ़ेलो' नियुक्त किये गये। वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के भी फ़ेलो थे।

इनकी विद्या से प्रभावित होकर देश के अनेक राजे-महाराजे इनको पारितोषिक भेजा करते थे। महाराजा काश्मीर ने तो इनको १०००) रुपये माहवार पर अपने यहाँ बुलाना चाहा। शास्त्री जी काशी में २००) रुपया मासिक ही पाते थे। पर काश्मीर नरेश को इन्होंने लिखा कि "पुराने ज़माने में राजा लोग ब्राह्मणों को काशी में रहने के लिये सहायता दिया करते थे—आप मुझसे काशी छुड़ाना चाहते हैं।" उनके इस उत्तर से उनका बनारस के प्रति प्रेम प्रकट होता है।

शास्त्रीजी जितने बड़े विद्वान् थे, उतने ही सीधे-सादे स्वभाव के व्यक्ति भी थे। अहंकार छू तक न गया था। हरएक से 'आप' कह कर बात करते। अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये उन्होंने कभी कोई उद्योग नहीं किया। कभी किसी से बेकार बात भी नहीं करते थे। बड़े-बड़े अंग्रेज़ इनसे मिलने घर पर आते थे। वे स्वयं कहीं किसीके पास नहीं जाते थे। इन्हें समय ही कहाँ था! रात-दिन पठन-पाठन में बीत जाता। प्रातः से मध्याह्न तक पाठशाला में बीतता। शाम को लड़कों को घर पर पढ़ाते। कम से कम इनके ३-४ हज़ार शिष्य रहे होंगे। भारत का ऐसा कोई कोना नहीं जहाँ इनके शिष्य न हों। दूर-दूर से लोग इनसे विद्या प्राप्त करने के लिये आते। इनके शिष्यों में भी अनेक अपना नाम अमर कर गये हैं, जैसे महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी, पं० चन्द्रदेव पंड्या, पं० विनायक शास्त्री आदि। इनके अतिरिक्त, जर्मनी, फ्रांस आदि से विद्वान् लोग इनको पत्र लिख कर अपनी शंका समाधान करते।

लोकाचार में बापूदेव बालक के समान सरल, धर्म कार्य में भीष्म की तरह दृढ़व्रती तथा समयानुसार कार्य करने में यूरोपीय महापुरुषों के समान पक्के व्यक्ति थे। धर्म में उनकी बड़ी आस्था थी और बड़े आचार-विचार के साथ रहते थे। मरण-पर्य्यन्त सुबह तीन बजे गंगा

स्नान करते रहे। बुढ़ापे में भी शरीर काफ़ी दृढ़ था। चार विवाह हुए। तीन स्त्रियाँ मर गयीं और उनकी कोई सन्तान न बची। चौथी स्त्री से दो पुत्र और एक कन्या का सुख उन्हें प्राप्त हुआ। बापूदेव के ज्येष्ठ पुत्र श्री गणपति देव शास्त्री स्वयं बड़े विद्वान् और धार्म्मिक पुरुष हैं।

गणित के प्रति इतना अनुराग होने पर भी शास्त्रीजी साहित्यके बड़े प्रेमी थे। वह कविता भी करते थे। संस्कृत की प्रसिद्ध पंक्ति-'अणोरणीयान् महतो महीयान्' की उन्होंने कितनी सुन्दर समस्या-पूर्त्ति की है! देखिये :--

शून्याल्लघीयान् ऋणरूप राशिर्महानर्नतादृगणितेन यस्मात्।
सिध्यत्यतः शेषमिवास्तिनूल मणोरणीयान् महतो महीयान्॥

अर्थात्:—यह आत्मा शून्य (ज़ीरो) से भी छोटी है और इतनी महान है कि जिस प्रकार कर्ज़ का ढेर। जैसे गणित के हिसाब से ऋण (सूद-दर-सूद) बढ़ता ही आता है और लाख चुकाने पर भी कर्ज़ बाक़ी बच ही रहता है, उसी प्रकार इस आत्मा का कभी क्षय नहीं होता। उसकी अनन्त महत्ता और अनन्त लघुता दोनों ही है। वह छोटे से छोटा और महान् से भी महान् है।

अस्तु, वृद्धावस्था से जर्ज्जरित होकर, ४७ वर्ष तक सरकारी नौकरी के उपरान्त, वे सन १८८६ में नौकरी से 'रिटायर' हो गये पेंशन ले ली। किन्तु, ऐसे कर्मठ पुरुष कार्य का बोझ हल्का होते ही अपने शरीर को अधिक दिन तक न सम्भाल सके। पेंशन लेते ही रोगी रहने लगे और दिन पर दिन बीमारी बढ़ती गयी। १४ मास बीमार रहने के बाद ७ जून, १८६० को उनका स्वर्गवास हो गया।

उनकी मृत्यु से संयुक्त-प्रदेश का एक रत्न ही नहीं उठ गया किन्तु, विद्या तथा विद्वत्ता के उद्यान का एक हरा-भरा वृक्ष सूख गया। विश्व-मात्र की विद्वन्मण्डली में शोक छा गया और भारत माता की गोद से एक अमूल्य रत्न खो गया!!!

पं० अयोध्यानाथ

गणित-ज्योतिष के विश्वविख्यात आचार्य बापूदेव शास्त्री की जीवनी के पाठक को अब हम फलित-ज्योतिष के भारत-विख्यात विद्वान की जीवनी बतलावेंगे। भारत ज्योतिष-विद्या में संसार का प्रधान है और उसकी इस प्रधानता के प्रतिपादकों में स्वर्गीय पं० अयोध्यानाथ शर्म्मा का नाम उल्लेखनीय है। अनधिकारी और कच्चे ज्योतिषियों के हाथ में पड़ कर आजकल ज्योतिष-विद्या काफ़ी बदनाम और अविश्वास की वस्तु हो रही है। किन्तु, पं० अयोध्यानाथ ऐसे कच्चे और साधारण ज्योतिषियों में से न थे। बापूदेव के प्रधान शिष्य पं० सुधाकर द्विवेदी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "गणक तरंगिणी" में भी पं० अयोध्यानाथ की विद्वत्ता की महत् प्रशंसा की है।

शर्म्मा जी के पिता पं० श्यामाचरण त्रिपाठी बड़े विद्वान् और सुविज्ञ ज्योतिषी थे। वे बड़े सरल स्वभाव के, लोकप्रिय नागरिक थे और बनारस के ईश्वरगंगी (नई बस्ती) नामक मुहल्ले में रहते थे। ज्योतिष पढ़ाने के लिये इन्होंने अपनी एक पाठशाला स्थापित की थी जहाँ बीस वर्ष से अधिक तक ये ३ बजे सुबह से १२ बजे दिन तक निःशुल्क विद्या-दान करते थे। यही नहीं, विद्यार्थी के रहने और खाने-पीने का खर्च भी स्वयं दिया करते थे। विद्या-दान के साथ धन-दान का ऐसा व्यसन था कि इनके पास जो कुछ था, वह अपने शिष्यों में ही बाँट दिया। संयुक्त-प्रान्त का काशी नगर ही भारत में लुप्त-प्राय होते हुए ज्योतिष तथा संस्कृत-साहित्य के उद्धार में समर्थ हुआ है और वह भी पं० बापूदेव और पं० श्यामाचरण त्रिपाठी ऐसे विद्वानों के कारण।

द्वान् पिता के पुत्र पं० अयोध्यानाथ थे। सन्
पुक्ल, पूर्णिमा को—उनका जन्म हुआ। पिता की एव
र भी, उनके साथ अनुचित लाड़-प्यार तथा रि
। बचपन से ही आचार-विचार के कठोर नियमों मे

पं० अयोध्यानाथ

ासन में रहते हुए, इनकी विद्या प्रारम्भ हुई और पि
के साथ पढ़ाने लगे। १५-१६ वर्ष की उम्र
अच्छे विद्वान् हो गये। पिता ने इनकी शिक्ष
था कि एक दिन में ही ज्योतिष ग्रन्थ का पूर
देते और आज्ञा देते कि दूसरे दिन उसी अध्या

उनके ही सामने, अन्य विद्यार्थियों को पढ़ावें। प्रखर-बुद्धि अयोध्यानाथ ने बहुत शीघ्र पढ़ाई समाप्त कर ली और पिता की पाठशाला में, उन्हीं की तरह, ३ बजे रात्रि से १२ बजे दोपहर तक शिक्षा देने लगे। उन दिनों ज़्यादा रात बीते सड़क पर आने-जाने में पुलिस को शंका होती थी। अतएव इस पाठशाला में दूर से आने वाले कितने ही विद्यार्थी गिरफ़्तार हो जाते और सफ़ाई देने के बाद छोड़े जाते। पर, पाठशाला का समय नहीं बदला।

अस्तु, पिता के जीवन काल में ही पुत्र इतना विद्वान् हो गया कि उसकी आलोचना को स्वयं पिताजी ध्यान से सुनते और विषय की विवेचना पर मुग्ध हो जाते। एक और विशेषता थी। पं० श्यामाचरण ने अपने पुत्र को व्याकरण तथा साहित्य नहीं पढ़ाया था। पर इन दोनों विषयों का अयोध्यानाथ को इतना अच्छा आन्तरिक ज्ञान था कि साधारण लोगों को यह विश्वास भी नहीं होता था कि इन्होंने इन दोनों विषयों में शिक्षा नहीं प्राप्त की है।

पाठशाला में शिक्षा देने के कारण अयोध्यानाथ को बड़ी असुविधा होती थी किन्तु, इन्होंने पिता की परम्परा का पालन किया और भारतवर्ष को ज्योतिष-शास्त्र के कई विद्वान् दिये जिनमें स्वयं उनके पुत्र पं० रघुनाथ शर्म्मा, काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के ज्योतिष विभाग के प्रधान पं० रामयत्न ओझा, बीकानेर रियासत के राज्य-ज्योतिषी पं० विष्णुदत्त तथा अल्मोड़ा के पं० लक्ष्मीदत्त जोशी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके शिष्य पं० रामयत्न ओझा ने 'लघु पाराशरी' तथा "जैमिनी सूत्रम्" की बड़ी सुन्दर टीका प्रकाशित की है।

पं० अयोध्यानाथ ने स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं प्रकाशित किया। दूसरों को शिक्षा देने से इन्हें अवकाश ही नहीं मिलता था। इसके

अतिरिक्त, जन्म कुण्डली बिलकुल सही बनाने और जन्म फल, वर्ष फल तथा अद्भुत रूपेण सत्य भविष्य वाणी के लिये इनकी इतनी ख्याति थी कि भारत के बड़े-बड़े राजा-महाराजा, विद्वान्, राजनीतिज्ञ तथा अन्य महापुरुष उनको घेरे रहते थे या अपने पत्रों या प्रतिनिधियों द्वारा उनको चैन नहीं लेने देते थे। सही भविष्यवाणी में पं० अयोध्यानाथ की इतनी ख्याति थी कि बीकानेर के नरेश महाराजा सर गंगासिंह उनके अनन्य भक्त हो गये और ऐसे गाढ़े अवसर पर, जब ज्योतिष की सभी बातें झूठी मालूम पड़ती हों, उनकी उक्ति को सत्य प्रमाणित होते देख दंग रह जाते थे। कुछ लोगों का ऐसा खयाल है कि भविष्य-ज्ञान की इतनी अधिक शक्ति किसी ईश्वरीय सिद्धि के द्वारा ही उनको प्राप्त हुई। कोई कहता है कि उनको राम का इष्ट था। जो हो वे "युक्तप्रान्त के भविष्य-द्रष्टा" के नाम से पुकारे जाते थे।

पं० अयोध्यानाथ की विद्या और प्रतिभा के विषय में अधिक लिखना व्यर्थ होगा। इस विषय में उनसे सम्पर्क में आनेवाला ही यह बतला सकता है कि ज्योतिष-शास्त्र के प्रति घोर अश्रद्धा रखने वाला भी किस प्रकार उनका लोहा मान लेता था। राजा-महाराजाओं-रईसों से घिरे रहने के कारण पण्डितजी के जीवन की सादगी चली गयी और वे राजसी ठाट से रहने लगे। प्रसिद्ध भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राय छगनजी, राय ललनजी इत्यादि उनके नित्य के मिलने वालों में से थे। इनके साथ घण्टों तक मनोविनोद भी होता था।

पर, वे स्वभाव से बड़े सादे, सीधे, सरल और दयालु पुरुष थे। लोकाचार में तो बहुत ही कच्चे थे। इसलिये, श्रीमानों के कृपापात्र होते हुए भी बहुत धन न कमा सके और जो कुछ कमाते भी थे, वह अपने काम में कम खर्च होता, पराये की सेवा में चला जाता। उनकी

इस शाहखर्ची को देखकर उनके पिता को भी चिन्ता हो जाती थी पं० अयोध्यानाथ के ३५ वर्ष की उम्र में - जब पं० श्यामाचरण चल बसे, बड़े आर्थिक संकट का सामना भी करना पड़ा। पर, उनका स्वभाव न बदला और परोपकार और समाज-सेवा की भावना ज्यों-की-त्यों बनी रही।

किन्तु, ऐसे उदार पुरुष को संसार में कभी कोई कमी नहीं रहती। ईश्वर उनकी देख-रेख करता है। सन् १९१० से १९२५ तक उनके जीवन का सबसे उज्ज्वल युग था और इस युग में उन्होंने बड़ा नाम-यश-धन कमाया। इस युग में उन्होंने भारतीय ज्योतिष का झण्डा इतनी मज़बूती से गाड़ दिया कि अब कोई शक्ति उसे उखाड़ कर नहीं फेंक सकती।

पण्डितजी बड़े धार्म्मिक पुरुष थे। राम के बड़े भक्त थे और अपना बहुत-सा समय राम नाम के जप में ही बिता देते थे। वे केवल ज्योतिषी ही नहीं थे। हिन्दी साहित्य से उनको बड़ा प्रेम था और स्वयं कविता भी किया करते थे। उनकी बनाई हुई आठ पंक्तियाँ मैं नीचे दे रहा हूँ जिनसे उनकी विचार-शैली का भी आभास मिल जायेगा :—

"संयम नियम जप तप की न शक्ति रही,
प्रेम नेम भूल्यौ सब समय सहाये देत।
हाय न पसीजै तऊ निर्दय भये धौं कैसे,
वेद तो अखेद तुम्हें सदय जनाये देत॥
आपहीं अपानी बात राखैं औ मनावैं हठि,
द्विज अवधेश राम तुमहीं देखाये देत।
कठिन कुठार को कराल कलि-काल यामैं,
अब न निभैगी भक्ति रावरी चेताये देत॥"

काव्य प्रेम तो इतना था कि काशी कवि समाज तथा नागरी प्रचारिणी सभा के आजीवन सदस्य रहे और हिन्दी से बड़ा स्नेह रखते थे। प्रायः यह देखा गया है कि संस्कृत के विद्वान् हिन्दी से उदासीन रहते हैं। पर, पं० अयोध्यानाथ के लिये यह बात लागू नहीं होती।

यहाँ पर यह भी लिख देना उचित होगा कि पं० अयोध्यानाथ की विद्वता से प्रभावित होकर, सन् १९२१ में भारत सरकार ने उन्हें 'महामहोपाध्याय' की उपाधि दी थी।

इस प्रकार, भारतवर्ष में बड़ा यश प्राप्त कर, ४ जून, १९२५ को, गंगा तट पर, श्रीकेदारेश्वर के मन्दिर के निकट, "गंगा महल" में, बहुत बड़े परिवार तथा विद्वन्मण्डली को बिलखता छोड़, ६१ वर्ष की अवस्था में, पं० अयोध्यानाथ परलोक सिधारे।

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द'

राजा शिवप्रसाद का नाम हिन्दी-साहित्य में अमर है। हरएक हिन्दी-प्रेमी को इस अद्भुत प्रतिभा और विद्याशील व्यक्ति का नाम स्मरण रखना चाहिये। आज हिन्दी साहित्य की जो उन्नति, विकास तथा महत्ता प्रतिपादित हुई है, उसके लिये राजा साहब का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है।

हिन्दी भाषा में साहित्य नामक वस्तु का निर्माण-काल १२ वीं शताब्दी से गिना-माना जाता है। वह साहित्य भी केवल महाराज पृथ्वीराज के पत्र अथवा परवानों के रूप में है। वास्तविक साहित्य का पता १५ वीं शताब्दी में लिखे हुए "बाबा गोरखनाथ" की रचनाओं से मिलता है। किन्तु; हिन्दी के सभी प्राचीन ग्रन्थों से किसी साहित्यिक परम्परा का अनुमान नहीं होता। किसी ने इस बात की चिन्ता या फ़िक्र की हो कि हिन्दी का साहित्य बनाने के लिये, उसे देश में प्राण फूँकनेवाली शक्ति बनाने के लिये, उसको किस रूप में ढाला जावे ऐसी कोई मिसाल नहीं मिलती। गोस्वामी तुलसीदास जी की रामायण अवश्य ऐसी भाषा में लिखी गयी कि उसे अधिक से अधिक लोग समझ सकें, पर उसे लिखने के समय गोस्वामीजी को यह चिन्ता भी रही होगी कि मैं साहित्य की सृष्टि कर रहा हूँ---इसमें सन्देह है। वे साहित्यिक नहीं, भक्त थे और भक्ति के प्रचार के लिये "अपने आनन्द" के लिये रामायण रच रहे थे।

गोस्वामी तुलसीदासजी हमारे प्रान्त के रत्न थे और हमें गर्व है कि हमारे प्रान्त के बाँदा ज़िले के राजपुर ग्राम में इतनी महान् आत्मा ने

सने भक्ति की नयी गगा ही बहा दी और हिन्दी साहित्य
ाव्य "रामायण" प्रदान किया। पर, साहित्य की रचना
ल के अनुसार ढालने का क्रमबद्ध काम राजा
ी किया।
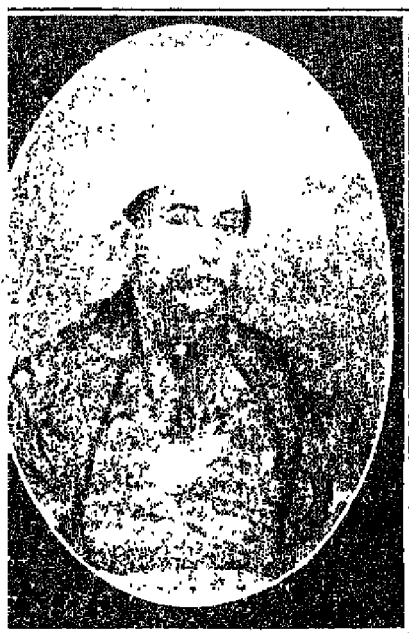
राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द'

का साहित्य ही उसका जीवन होता है। जिस देश क
वह निर्जीव हो जाता है। हिन्दी भारत की राज-भाष
ा हो सकती है पर वह सबसे अधिक हमारी—हमारे
है और उसके निर्माण के लिये घोर परिश्रम करनेवाले
द के हम परम ऋणी हैं।

2

राजा साहब का जन्म सन् १८२३ में हुआ था। उस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी मुसलमानों एवं मराठों को पराजित कर भारत पर एकछत्र राज्य करने का काम प्रायः पूरा कर चुकी थी। मुसलमानों की राजभाषा अरबी-फ़ारसी होने के कारण, उसका ही देश में अधिक प्रसार था। राजकाज के लिये वही भाषा थी। भारतीयों को सरकारी काम करने के लिये उसी को सीखना पड़ता था। इसलिये ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी उर्दू लिपि और अरबी-फ़ारसी भाषा को अपनाया।

राजा शिवप्रसाद का जन्म काशी में; एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। संस्कृत की विद्या का केन्द्र काशी था अतएव यहाँ पर, साधारणतः हिन्दी का प्रचार अधिक था। बचपन से ही उन्हें हिन्दी से प्रेम हो गया, यद्यपि शिक्षा-दीक्षा फ़ारसी-अरबी में हुई थी। बड़े होने पर उन्होंने अपने इस प्रेम को चरितार्थ कर दिखलाया।

इन्हीं दिनों भारतवर्ष में कुछ लोगों का ध्यान हिन्दी की ओर भी खिंच रहा था। ईसाई पादरियों ने अपने धर्म के प्रचार के लिये हिन्दी में ईसाई-ग्रन्थों का प्रकाशन प्रारम्भ किया। बाइबिल का भी हिन्दी अनुवाद छापा गया। पादरी ग्रियर्सन साहब को हिन्दी से बड़ा प्रेम था। सन् १८३७ में दिल्ली में हिन्दी का पहला लीथो प्रेस खुला। पर, हिन्दी की कोई क़द्र न थी। यह एक "मुश्किल मज़हबी ज़बान" कही जाती थी। इसे हिन्दुओं की मज़हबी ज़बान कहते थे। मुसलमान इसकी उपेक्षा के लिये इसे 'भाखा' कहते थे।

ऐसी दशा में शिवप्रसाद जी को हिन्दी पढ़ने के समय अपमानित तक होना पड़ा था। हिन्दू भी इनकी हँसी उड़ाते थे और इनके बुज़ुर्ग हिन्दी पढ़ने को वक्त बर्बाद करना बतलाते थे। फिर भी, राजा साहब का जोश ठण्डा न हुआ।

इन्होंने यह समझ लिया था कि हिन्दू-जाति का, हिन्दू-धर्म का तथा हिन्दू-सभ्यता का तब तक उद्धार न होगा जब तक हिन्दी भाषा का उत्थान न होगा।

पर यह हिन्दी-भाषा कैसी हो! इनके समय के पहले शुद्ध बृजभाषा के अनेकों रसिक कवि हो गये थे। भक्ति तथा योग पर बहुत अधिक कवितायें थीं। गद्य में प्रायः बृज या पण्डिताऊ भाषा का प्रयोग होता था। पर, राजा साहब हिन्दी को 'आम-फ़हम', सबके समझने लायक़ या ऐसी भाषा बनाना चाहते थे जिसे हिन्दू-मुसलमान दोनों अच्छी तरह से समझ सकें। इसलिये, उस समय की परिस्थिति को देखते हुए उन्होंने यही तय किया कि लिपि तो हिन्दी हो पर ज़बान अरबी-फ़ारसी मिली हुई हो। ऐसी ही भाषा में अन्य भाषाओं की पुस्तकों का अनुवाद भी किया जावे ताकि साहित्य का भण्डार बढ़े।

वे शहर के रहने वाले थे। ऊँची संगत में रहते थे। ग्राम-जीवन से उनका कुछ भी सम्बन्ध न था, अतएव उनकी भाषा में देहाती शब्द और मुहावरों को जगह भी नहीं दी जाती थी। आज हम उनकी भाषा के पक्षपाती न हों, पर खड़ी-बोली और बोलचाल की ज़बान में विचार प्रकट करने की जो प्रणाली उन्होंने चला दी थी—उसीसे हिन्दी साहित्य का नया और वर्त्तमान रूप बना है, यह मानना ही पड़ेगा।

राजा साहब की युवा-अवस्था में एक बड़ी महत्वपूर्ण घटना हुई। मैकाले के अनुरोध से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा देना स्वीकार कर लिया था पर इसके अतिरिक्त देशी शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था। सन् १८५४ में सर चार्ल्स उड की यह योजना लन्दन में स्वीकार कर ली गयी कि भारत के ग्रामों में भी स्कूल खोले जावें और वहाँ देशी भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा दी जावे। इस योजना के अनुसार

हमारे प्रान्त में भी बहुत से स्कूल खुले और इनके लिये हिन्दी में किताबों की ज़रूरत हुई। बहुत सी किताबें पादरियों ने तय्यार कीं और बहुत से ग्रन्थ राजा शिवप्रसाद और उनके साथियों ने मिलकर लिखा।

उन्हें शिक्षा के कार्य द्वारा देश-सेवा करने का बड़ा अच्छा अवसर भी मिला। उनकी विद्वत्ता तथा हिन्दी-प्रेम की ख्याति फैली हुई थी। सामाजिक-जीवन में वे बड़े उन्नत विचार के पुरुष थे। अन्ध-विश्वास और धार्मिक-अज्ञान से उनको इतना दुःख हुआ था कि एक पुस्तक ही लिख डाला जिसका नाम "मानव-धर्म-सार" था और जिसमें मनु भगवान् के धर्म की बड़ी अच्छी मीमांसा थी। किन्तु उनका सबसे अच्छा और प्रसिद्ध ग्रन्थ "इतिहास तिमिर नाशक" है जो दो भागों में भारतवर्ष का समूचा इतिहास है। राजनीतिक दृष्टि से वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी और अंग्रेज़ी शासन दोनों के बड़े भक्त थे। उनका कहना था कि भारत का कल्याण इसी में है कि वह अंग्रेज़ी शासन में रहे। मुसलमानी कुशासन के अन्त में अनेक प्रसिद्ध भारतीय हृदय से इसी विचार के थे। हमारे प्रान्त में- जो उस समय पञ्जाब में सिक्ख राज्य होने के कारण 'उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश' कहलाता था, बृटिश सरकार राजा साहब को अपना एक स्तम्भ और परम आदरणीय व्यक्ति समझती थी। उनके गुण से प्रभावित होकर ही उसने सन् १८५६ में उनको "इन्सपेकर ऑव् स्कूल्स" के पद पर नियुक्त किया। उस ज़माने में बिरले ही भारतीय ऐसे महत्त्वपूर्ण पद को प्राप्त करते थे।

इस सरकारी पद पर पहुँच कर उन्होंने हिन्दी की बहुत सेवा की और उसका बड़ा प्रचार किया। इस पद को प्राप्त करने के ग्यारह वर्ष पहले से ही हिन्दी-प्रचार तथा हिन्दी-प्रेम बढ़ाने के लिये वह एक अख़बार निकाल रहे थे जिसका नाम "बनारस-अख़बार" था। यह

सन १८४५ मे निकला था और हिन्दी के वत्तमान समाचार पत्रो का पथ-प्रदशक कहा जा सकता है। उस पुराने ज़माने के अख़बार मे समाचार किस रूप में दिये जाते थे तथा उसकी भाषा कैसी होती थी, यह बतलाने के लिये यहां पर हम एक उद्धरण देते हैं:—

"यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्म्मात्माओं के मदद से बना है उसका हाल कई दफ़ा ज़ाहिर हो चुका है। अब वह मकान एक आलीशान बनने का निशान तय्यार हर चेहार तरफ़ से हो गया बल्कि इसके नक़्शे का बयान पहले मुंदर्ज है .."

इस प्रकार की भाषा राजा साहब ने चलाया। उन्होंने एक और बड़ा काम किया। उनके समय में वाक्यों तथा वाक्य-समूहों को एक-दूसरे से विभक्त करने की प्रथा का ज़्यादा प्रचार नहीं हुआ था। लिखते समय विराम आदि चिह्नों का ज़्यादा विचार नहीं होता था। शुरू से आख़ीर तक एक तरह से लिखते चले जाते थे। राजा साहब ने इस तरीक़े में हेर-फेर कर, भाषा को साफ़-सुथरी बनाने पर इतना ध्यान दिया कि उसका लंगड़ापन दूर हो गया। आज हम इस बात की महत्ता को कम समझ सकते हैं—उस समय यह कितना बड़ा काम था—यह विद्वान् लोग ही जानते हैं।

राजा साहब ने केवल पाठ्य-पुस्तकें, इतिहास या धर्म-ग्रन्थ ही नहीं लिखा, बल्कि "भाषा का इतिहास" भी लिखा है। यह इतिहास पढ़ने योग्य है।

उनके जीवन में ही सन् ५७ का प्रसिद्ध गदर हुआ था। उसके बाद देश का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से निकल कर सीधे महारानी विक्टोरिया की सरकार के हाथों आ गया। भारत

का शासन साम्राज्ञी और उनकी पार्लमेण्ट की देख-रेख में होने लगा। यह शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन से कहीं अच्छा था। नवीन शासन ने राजभक्त तथा विद्वान् भारतीयों के सहयोग का पूरा लाभ उठाया। शिक्षा के कार्य में राजा शिवप्रसाद ने सरकार का बहुत हाथ बँटाया था। बड़े बड़े अङ्गरेज़ विद्वान् इनकी बड़ी क़द्र करते थे। इनको "राजा" और "सितारे हिन्द" की उपाधि से विभूषित कर ब्रिटिश सरकार ने भी अपना आदर प्रकट किया।

अपने दैनिक जीवन में राजा साहब ईश्वर-भक्त तथा सरल स्वभाव के मिलनसार व्यक्ति थे। ग़रीबों की भरपूर सहायता करते थे। दान में काफ़ी धन व्यय करते थे। पुस्तकें रखने और ख़रीदने का बड़ा व्यसन था। ऊँची श्रेणी के लोग इनके साथी थे, पर साधारण श्रेणी के लोग भी इनका बड़ा आदर करते थे। काशी के सार्वजनिक जीवन में इनका बड़ा हाथ था। सलाह-मश्विरे के लिये कलेक्टर-कमिश्नर इनको बुलाते थे तथा इनके घर आते थे। नागरिक समस्याओं को हल करने में इनसे काफ़ी मदद मिलती थी।

किन्तु साहित्यिक व्यक्ति होने के कारण तथा साहित्य से ही विशेष रुचि होने के कारण इनका जीवन किताबों के सहवास में और हिन्दी-भाषा की सेवा में ही बीता। और प्रकार से वह विशेष घटनापूर्ण, समस्यामय या रोचक न था। आज उनको हम हिन्दी-साहित्य के निर्माता के रूप में ही पूजते हैं।

जीवन का हरएक क्षण सदुपयोग में लगा कर सन् १८९५ में, ७२ वर्ष की उम्र में उनका देहान्त हो गया। पर, हिन्दी साहित्य की उनकी प्रारम्भ की हुई सेवा को सम्पूर्ण करने के लिये भारत में—काशी में ही, दूसरी महान आत्मा जन्म ले चुकी थी। और वह महापुरुष थे—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करना सूर्य्य को दीपक दिखाने का प्रयत्न करना है। अपने ३४ वर्ष के छोटे जीवन में उन्होंने जितना कार्य किया, उतना विरले ही महापुरुष कर पाते हैं। यह अनुमान सत्य-सा प्रतीत होता है कि उनके ऊपर विद्या देनेवाली भगवती सरस्वती की कृपा थी। किन्तु, इसके साथ ही एक बड़ा अपवाद भी था। प्रायः यह देखा जाता है कि विद्वान् पुरुष निर्धन होता है। पर, 'राजा' हरिश्चन्द्र पर सरस्वती और लक्ष्मी, दोनों की ही कृपा थी।

भारत में अंग्रेज़ी राज्य की नींव लार्ड क्लाइव ने डाली। क्लाइव के इतिहास में बंगाल के प्रसिद्ध धन-कुबेर जगत-सेठ अमीचन्द का नाम प्रमुख रूप से आता है। क्लाइव तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी से अनबन हो जाने के कारण अमीचन्द का कुटुम्ब काशी आकर बस गया। उसी परिवार में सन १८५० ई० में हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ।

इनके बाल-काल में ही पिता-माता का देहान्त हो गया। पिता की अतुल सम्पत्ति तथा गृहस्थी का सारा भार इन्हीं के सर पर आ पड़ा। किसी विशेष अभिभावक की देख-रेख न होने के कारण इनकी पढ़ाई का विशेष प्रबन्ध भी न हो सका। दुर्बल-हृदय का अमीर लड़का ऐसी हालत में बड़ी आसानी से कुमार्ग पर जा सकता था।

पर, ईश्वर को इनसे और ही कार्य लेना था, अतएव उसने इनकी बुद्धि को कुशाग्र तथा मानसिक-बल को अपरिमित बनाया।

बचपन से ही पढ़ने-लिखने का बड़ा चाव था और उस काल में उर्दू-फ़ारसी की ओर ही लोगों का ध्यान होने पर भी, हिन्दी से इनका विशेष अनुराग था। सौभाग्य से मित्र-मण्डली भी ऐसी बनती गयी जिनमें सभी ने इनके हिन्दी-प्रेम में हाथ बंटाया। इनके साथियों में श्रीराधाचरण गोस्वामी, श्रीदेवकीनन्दन खत्री, श्रीबदरीनारायण चौधरी, पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा कविवर प० जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' आदि विख्यात हैं। इन लोगों के साथ रात-दिन का उठना-बैठना रहता था और हरएक हिन्दी-प्रेमी जानता है कि हिन्दी साहित्य में उपर्लिखित सभी व्यक्ति अमर हैं; सभी ने हिन्दी-साहित्य के निर्माण में बड़ा कार्य किया है।

भारतेन्दु को घर के काम-काज से बचपन से ही काफ़ी यात्रा करनी पड़ी थी। छोटी उम्र में ही इनको बंगाल जाना पड़ा था। यात्रा-प्रिय होने के कारण इन्होंने कई यात्राएं कीं जिससे इनको यथेष्ठ अनुभव तथा देश की दशा का ज्ञान प्राप्त हो गया था। इस ज्ञान का उन्होंने काफ़ी सदुपयोग किया।

स्वभाव के बहुत ही कोमल और मिलनसार प्रकृति के होने के कारण इनकी लोक-प्रियता शीघ्र ही स्थापित हो गयी। विद्या-प्रेमी होने के कारण काशी का पण्डित-समाज भी इनकी ओर खिंचने लगा। विनोद-प्रिय और रसीली तबीयत के कारण मित्र-मण्डली के प्राण हो गये। हँसी-मज़ाक़ का क़ाफ़ी शौक़ था। प्राय लोगों की कमज़ोरियों को हँसी-मज़ाक़ से ही दूर कर देते थे। इनकी विनोद-प्रियता का उदाहरण उन्हीं के एक साथी द्वारा वर्णित कहानी से मिलता है। एक बार यह सूझी कि नगर के कुल मोटे आदमियों को दावत दी जाय। पर, किसी को यह रहस्य बतलाया

अवसर के लिये मोटे-मोटे नौकर भी चुने गये।
वाने आये और उन्होंने देखा कि उन में एक भी
दमी नहीं है, चारों ओर मोटे ही मोटे आदमियों की
हुत ही लज्जित हुए। उनके ऐसे मज़ाक़ों से लोग
"भारतेन्दु" की उपाधि भी कुछ लोगों ने प्रशंसा
बुराई करने के लिये ही दी थी। "भारत का

'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र

चन्द्रमा जिस प्रकार कलंकी (धब्बे के कारण
तथा पौराणिक कथा के अनुसार चरित्र-हीन)
ह भी भारत में कलंक-युक्त हैं। पर आज हम बड़े
उनके नाम के साथ इस उपाधि को जोड़ते हैं
अर्थ यह लगाया जाता है "भारत में चन्द्रमा के
थति यशवान"।

रईस तो थे ही, रईसी तबीयत भी पाई थी। ग़रीब भूखे-नङ्गे को खुले हाथों सहायता करते थे। जिस किसी को दुःखी पाया और सुना, उसकी चुपचाप सहायता कर दी। इस प्रकार, अपने पिता की सम्पत्ति का बहुत-कुछ भाग दान-दक्षिणा में ही व्यय कर डाला।

नीरस जीवन से इन्हें बड़ी घृणा थी। साहित्यिक चर्चा के अतिरिक्त, नाच-रङ्ग का भी शौक़ था। नाटकों से बड़ा प्रेम था। नाटक देखने और खेलने-दोनों के शौक़ीन थे। इन्हींके सहयोग तथा प्रोत्साहन से स्थापित काशी की भारतेन्दु नाटक मण्डली अभी तक कार्य कर रही है और नाटक में रुचि रखने वाले सम्पन्न अथवा कलावान् व्यक्तियों के सहयोग से इसके अभिनय उच्च कोटि के होते हैं।

समाज-सुधार के कार्यों में भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बहुत आगे बढ़े हुए थे। काशी के अग्रवाल-समाज में पुरानी परिपाटी और रूढ़ि के प्रति बड़ी आस्था थी। खाने-पीने के मामले में बड़ी कड़ाई रखी जाती थी। स्त्री-शिक्षा का तो नाम भी न था। लड़कों को भी स्कूल में पढ़ाने की रीति न थी। इसी काल में, अंग्रेज़ी शिक्षा का काफ़ी प्रचार हो रहा था। पर, उस समय बनारस में अंग्रेज़ी शिक्षा देने वाली संस्थायें, जैसे जयनारायण स्कूल, लन्दन मिशन स्कूल आदि पादरियों के हाथ में थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र यह चाहते थे कि लोग अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करें पर ऐसे स्कूल में जो पूर्णतः भारतीयों के प्रबन्ध में हों और शिक्षा को भारतीयता से पृथक् न कर दें। इसी उद्देश्य से उन्होंने हरिश्चन्द्र स्कूल की स्थापना की जो आज इण्टरमीडियेट कालेज हो गया है और प्रान्त के सर्व-प्रधान हाई स्कूलों में स्थान रखता है।

स्त्री समाज की जागृति तथा उनमे शिक्षा के प्रचार की ओर भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का ध्यान गया और इसीलिये अपने व्यय से, सन् १८७४ में "बाला-बोधिनी" नामक मासिक पत्रिका निकालना प्रारम्भ किया जो महिलाओं को धर्म, कर्त्तव्य तथा समाज की आवश्यकताओं की पूर्त्ति की शिक्षा देती थी। इस पत्रिका ने बनारस के ही नहीं, वरन प्रान्त के स्त्री-समाज में जान फूँक दी। इस पत्रिका के प्रकाशन के एक वर्ष पहले, जनता में जागृति उत्पन्न करने के लिये, उन्होंने "हरिश्चन्द्र मैगज़ीन" का प्रकाशन प्रारम्भ किया था जिसे लोग बड़े चाव से बड़े प्रेम से पढ़ते थे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सामाजिक तथा साहित्यिक कार्यों की महत्ता के अनुमान के लिये उस समय की दशा की जानकारी भी आवश्यक है। आजकल के ज़माने में उस वक्त की हालत का अनुमान लगाना कठिन है। आज हम किसी भी सामाजिक मसले पर आसानी से राय दे सकते हैं पर उस समय हिन्दू-समाज में ऐसी दकियानूसी प्रवृत्ति फैली हुई थी और ऐसी जड़ता छा गयी थी कि किसी भी मसले पर ज़रा भी आवाज़ उठाना खतरे से खाली न था। उस समय किसी धनिक-पुत्र का साधारण व्यक्ति से मिल-जुल कर, बराबरी की तरह से रहना भी बहुत बुरा समझा जाता था। जात-पाँत, छूआछूत और ऊँच-नीच का भेद बहुत अधिक था।

एक ओर इतनी जड़ता थी, दूसरी ओर अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार से नयी हवा बह निकली थी। जो कोई अंग्रेज़ी पढ़-लिख लेता वह अपने को "अंग्रेज़-हाकिम-साहब" समझने लगता। उस को अपनी मातृ-भाषा और देशी पोशाक भी बुरी लगती। बनारस या प्रयाग की हालत भी वैसी ही होती जा रही थी जैसी कि राजा राममोहन

राय के समय में कलकत्ता की थी। इसलिये, एक ओर समाज की गहरी नींद तोड़ना था, दूसरी ओर अपनी मातृ-भाषा और देशी रीति-रिवाज़ के प्रति लोगों में अनुराग उत्पन्न कराना था। दोनों ही दशा में भगीरथ प्रयत्न की आवश्यकता थी। वह युग व्याख्यान या लेख का भी न था।

तीसरी बात भारत की राजनैतिक स्थिति थी। सन ५७ के ग़दर के बाद भारत में स्वदेश-प्रेम की लहर फैल रही थी। अपने देश की दशा पर लोग विचार कर रहे थे। लोगों के मन में देश की हालत सुधारने की बात लहराने लगी थी। आपस के झगड़ों के कारण देश की जो दयनीय दशा हो रही थी उसकी ओर भी ध्यान खिँच रहा था। स्वदेश-प्रेम की इस प्रवृत्ति ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हृदय में भी घर कर लिया। उन के मन में भी चुपचाप न बैठ रहने का संकल्प उठा।

पर, ऐसा कौन-सा मार्ग था जिससे वे समाज की आँख खोलते, मातृभाषा के प्रति अनुराग उत्पन्न कराते! देश की सेवा करते और साथ ही अपना मनोरञ्जन भी कर सकते! बहुत-कुछ विचार करने पर उनको एक ही मार्ग सुगम-सुलभ और सर्व्वोच्च मिला और वह था—साहित्य का। भारतेन्दु प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी-साहित्य द्वारा जनता के हृदय तक पहुँच सकने का मार्ग ढूँढ़ निकाला और आज भारतवर्ष में वे सर्व-श्रेष्ठ साहित्यिक और कलाकार के रूप में पूजे जाते हैं।

इनके सामने हिन्दी-साहित्य का जो नमूना था, वह विचित्र था। एक ओर सूर-तुलसी ऐसे महा-कवियों का भक्ति-काव्य था ; दूसरी ओर केशव, बिहारी तथा रसखान ऐसे कविगणों की शृङ्गार-रस

भरी कविताएं थीं तीसरी ओर गद्य काव्य के रूप में लल्लूलाल आदि के प्रेम सागर सुख सागर आदि ग्रन्थ थे पर ऐसा कोई साहित्य नहीं था जो सब की रुचि के अनुकूल हो, जिस में सभी अपने मन की चीज़ पा सकें। सभी रचनायें बड़ी गम्भीर थीं जो मन को ऊब जाने से नहीं रोक सकती थीं। अपने-अपने ढंग से लिखी गयी उन चीज़ों में वह व्यापकता न थी जो "जनता के लिये साहित्य बनाने वाले" को उपलब्ध होतीं।

सर्व-साधारण तक पहुँच सकने के लिये गद्य लिखना ज़रूरी था। पर, गद्य-लेख का वास्तविक प्रयास राजा शिवप्रसाद ने किया था। पर, उनके गद्य में अरबी-फ़ारसी की भरमार थी। राजा शिवप्रसाद के समकालीन राजा लक्ष्मणसिंह थे। उनको किसी प्रकार से भी उर्दू या अरबी-फ़ारसी शब्द हज़्म नहीं होता था। वह शुद्ध संस्कृत-मय गद्य लिखते थे। पर, ज़रूरत थी इन दोनों के बीच का मार्ग ग्रहण करने की और ऐसी भाषा बनाने की जो सबको रुचे और जिसका सभी आनन्द ले सकें।

ऐसी भाषा की रचना हरिश्चन्द्र ने की। यह कथन सत्य है कि "हिन्दी गद्य को अनिश्चितता के कर्दम से निकाल कर उन्होंने गद्य शैली को निश्चित दशा में रखा। उन्होंने भाषा का एक चलता और परिमार्जित रूप स्थिर किया। उनकी भाषा में हरएक भाषा के शब्दों को तोड़-मरोड़ कर, हिन्दी का बना लिया गया। न तो उन्होंने किसी भाषा का तिरस्कार किया और न उसे त्याग दिया। बल्कि यही किया कि शुद्धि द्वारा दूसरे की वस्तु को अपनी बना लिया। यह काम बड़ी कुशलता पूर्वक किया गया। गद्य की एक दृढ़ नीव डालने से अपने आपही लोगों की प्रवृत्ति राजा शिवप्रसाद की अरबी-

फ़ारसी मिली हिन्दी लेखन-प्रणाली की ओर से हट गई और उन्हें विश्वास हो गया कि उनकी भाषा में भी वह ज्योति और जीवन वर्त्तमान है जो अन्यान्य जीवित भाषाओं में दृष्टिगोचर होता है।"

भारतेन्दु के जीवन काल में ही लोगों ने उनका अनुकरण किया और कई विषयों पर लिखना शुरू कर दिया। उनके समय में ही इतिहास, भूगोल, विज्ञान, वेदान्त--सभी विषयों पर हिन्दी में पुस्तकें प्रकाशित हो गईं और कई पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित होने लगीं।

भारतेन्दु ने यही नहीं किया कि संस्कृत-फ़ारसी के बीच का मार्ग पकड़ कर गद्य की एक शैली निर्धारित की, बल्कि, उसमें देहाती भाषा और आम बोल-चाल के मुहावरों को मिला कर बड़ी कर्ण-प्रिय और सुन्दर भाषा बना दी। "गूँगे का गुड़", "बैरी की छाती ठंडी पड़ी", "अंधे की लकड़ी", "झख मारना" ऐसे प्रयोग भी उनकी रचनाओं में स्थान पाने लगे।

इसके अलावा भारतेन्दु के साहित्य में एक बड़ी अनोखी बात हुई। अभी तक, जितने लेखक हो चुके थे, वे गम्भीर रूप में लिखते थे। कोई हँसी की बात और हँसाने वाली बात भी साहित्य में स्थान पा सकती है--यह कल्पना भी नहीं की जाती थी। पर हिन्दी लेखकों में वही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने गद्य-भाषा में हास्य और व्यंग का पुट दिया। आज हम साहित्य में हास्य और व्यंग की भरमार देखते हैं पर इसका प्रारम्भ भी हरिश्चन्द्र ने किया और इसके लिये हिन्दी साहित्य उनका चिर ऋणी रहेगा।

जिस प्रकार मिठाई खाने वाला केवल एक ही प्रकार की मिठाई से प्रसन्न नहीं हो सकता, उसे कई प्रकार की मिठाई चाहिये, उसी प्रकार पढ़ने वाली जनता की भी रुचि होती है। वह केवल लेख या कविता

[illegible]ती कभी चटपटा मसाला भी चाहिये साथ [illegible]स्य विनोद [illegible] कमजोरियों को आसानी से समझाया जा [illegible]न्दु हरिश्चन्द्र ने लेख लिखा—गद्य की रचना की। व्यंगमय "प्रहसन" लिखे। कविता रची। नाटक लिखा। सभी प्रकार के साहित्य की रचना कर देश को जगाने तथा हिन्दी साहित्य को सजाने की चेष्टा की। हिन्दी में नाटकों की प्रणाली राजा लक्ष्मण सिंह ने शुरू की थी पर अधिक लोक-प्रिय नाटक भारतेन्दु ने ही लिखे। कवि-सम्मेलन की परम्परा भी उन्हीं की शुरू की है जिससे कविता-पाठ द्वारा काव्य-ज्ञान बढ़ता है और मनोविनोद भी होता है। नाटकों में स्वयं भाग लेकर, उन्हें खेल कर उन्होंने यह दिखलाया कि अभिनय करना बड़े घरवालों की शान के ख़िलाफ़ नहीं है। भारत की प्राचीन नाट्य-कला तथा नाट्य-साहित्य का भी वह उद्धार करना चाहते थे अतएव उन्होंने प्राचीन संस्कृत नाटकों का अनुवाद भी बड़े परिश्रम से किया।

अपनी छोटी-सी उम्र में उन्होंने अनोखे ग्रन्थ लिखे। साहित्यिक दृष्टि से उनका लिखा "सत्य-हरिश्चन्द्र" उच्च कोटि का नाटक है। राजनैतिक-दृष्टि से "भारत दुर्दशा" अनोखा नाटक है। समाज की दुर्दशा चित्रित करने वाला "वैदिक हिंसा हिंसा न भवति" आज भी अमूल्य रचना है। "अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा--टके सेर भाजी, टके सेर खाजा" पढ़कर किसको हंसने का मर्ज़ न हो जावेगा। स्त्री-जाति के लिये लिखा हुआ "नीला देवी" महत्वपूर्ण रचना है। यह एक छोटा-सा नाटक या नाटिका है पर बहुत ही उत्तम रचना है। इसकी भूमिका में उन्होंने स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी अपने जो विचार प्रकट किये हैं, वह पढ़ने योग्य हैं। इनकी सर्व-प्रसिद्ध नाटिका "चन्द्रावली" है तथा "भारत-जननी" देश-भक्ति से ओत-प्रोत नाटक है।

अस्तु, वे हिन्दी के निर्माता थे। "कालचक्र" नामक अपनी पुस्तक में उन्होंने स्वयं लिखा है कि "हिन्दी नई चाल में ढली सन १८७३ ई० में।" इनकी भाषा बड़ी कोमल, मधुर, हृदय-स्पर्शी और भावपूर्ण होती थी। इसीलिये समाज तथा देश की जिस सेवा तथा आवश्यकता का यह मंत्र फूँकते थे, वह हृदय पर तुरत असर डालता था। कविता के प्रचार का भी काम कम नहीं किया गया। काव्य-प्रचार के लिये ही सन् १८६८ में इन्होंने "कवि-वचन-सुधा" नामक पत्रिका प्रकाशित की। १८७३ में "हरिश्चन्द्र मैगज़ीन" निकली जिसका नाम, ८ संख्या के बाद बदल कर "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" रख दिया गया।

हरिश्चन्द्र वैष्णव मत के थे और काशी के प्राचीन गोपाल मन्दिर के भक्त थे। सूरदास आदि कवियों की जीवनियाँ भी इन्होंने लिखा और वैष्णव मत के प्रतिपादन के लिये "वैष्णव-सर्वस्व" नामक पुस्तक लिखी।

इस प्रकार वह देश-प्रेमी, शिक्षा-प्रेमी, समाज-सुधारक, साहित्यिक-महारथी तथा कुशल कलाकार और "सत्यं शिवं सुन्दरं" के उपासक थे। इन्होंने सदैव अपनी वेष-भूषा को कलामय रखा, वह अपने वातावरण को साफ़-सुथरा और सजा हुआ देखना चाहते थे और उन्होंने बड़े यत्न और प्रेम से हिन्दी साहित्य को चुने हुए फूलों से सजा दिया।

ऐसे कलाकार को दीर्घायु का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ और विधाता ने ३४ वर्ष की उम्र में ही, अर्थात् सन १८८४ में ही उन्हें संसार से छीन लिया!!!

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

राजा शिवप्रसाद तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ऐसी विभूतियों ने हिन्दी-भाषा और साहित्य की नींव डालने का काम किया था पर हमारे साहित्य और भाषा के वर्त्तमान रूप और प्रणाली का वास्तविक निर्माण करने वाला, साहित्य की इमारत खड़ी करने वाला दूसरा ही व्यक्ति था। इस व्यक्ति की हिन्दी-सेवा का ही परिणाम है कि आज हिन्दी में हज़ारों पुस्तकें हैं, हज़ारों लेखक हैं और भाषा का इतना सम्मान है। इस व्यक्ति को हिन्दी-भाषा-भाषी जनता "आचार्य" कहती है। इस व्यक्ति का नाम है पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी।

हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध लेखक श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने द्विवेदीजी के विषय में लिखा है :—

"द्विवेदीजी ने हिन्दी साहित्य की जो सेवा की है, वह अक्षुण्ण है। हिन्दी भाषा-भाषियों में ज्ञान का जितना प्रचार द्विवेदीजी ने किया है, उतना अन्य किसी लेखक ने नहीं किया। यह आधुनिक हिन्दी साहित्य के लिये कम सौभाग्य की बात नहीं है कि उसके प्रारम्भ काल में ही उसे द्विवेदीजी के समान सेवक प्राप्त हो गया। अठारह वर्ष तक "सरस्वती" के द्वारा उन्होंने साहित्य, शिक्षा, पुरातत्व, इतिहास, अर्थ-शास्त्र, विज्ञान, राजनीति और समाजतत्व के ज्ञान सर्व-साधारण के लिये सुलभ कर दिये।...उन्होंने सच्चे सेवक की तरह हिन्दी साहित्य को कलुषित होने से बचाया। उन्होंने हिन्दी साहित्य को सदैव उच्च आदर्श पर रखने की चेष्टा की।...कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदीजी ने क्या किया तो मैं उसे समग्र आधुनिक हिन्दी साहित्य दिखला कर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है।"

द्विवेदीजी का इससे बढ़ कर और क्या परिचय हो सकता है। हिन्दी-भाषा के विख्यात लेखक स्वर्गीय श्री रामदास गौड़ ने हिन्दी-भाषा के प्रति द्विवेदीजी की सेवाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है :-

"विगत तीस वर्षों का हिन्दी-साहित्य का इतिहास श्रद्धेय पंडितजी की कीर्त्ति कौमुदी से ही आलोकित है। इस इतिहास-मन्दिर की दीवारें जिस नींव पर खड़ी हो सकती हैं, वह एकमात्र उन्हींकी साहित्य-सेवा है।"

ऐसे 'महावीर' साहित्य-सेवक का जन्म सतहत्तर वर्ष पूर्व---सन १८६३ में ज़िला रायबरेली के दौलतपुर ग्राम में हुआ था। उन दिनों अवध सूबे की नवाबी हुकूमत का अन्त हो गया था। उसके ज़िलों में, नवाबों की विलास-प्रियता के कारण शिक्षा और धन दोनों का नाश हो चुका था। पुरानी हुकूमत के उलटने और नयी हुकूमत के स्थापित होने से, शासन की व्यवस्था भी पूरी नहीं सम्भल पाई थी। चारों ओर घोर दरिद्रता छाई हुई थी।

ऐसी ही अशिक्षा और दरिद्रता के बीच महावीर प्रसाद का जन्म हुआ। बचपन से ही पढ़ने का बड़ा चाव था। ग्राम में उर्दू-फ़ारसी की शिक्षा के लिये एक 'मक़तब' था। उसी में पढ़ने लगे। घर पर कुछ संस्कृत भी पढ़ी। फिर, अंग्रेज़ी पढ़ने के लिये रायबरेली चले गये। पर, रायबरेली में रह कर पढ़ने के लिये साधन न था। इस-लिये नन्हा बालक घर से १५ कोस पैदल स्कूल जाता और लौट आता। विद्या प्राप्त करने के लिये यह कितनी बड़ी तपस्या थी। लेकिन यह काम रोज़ के लिये सम्भव न था अतएव एक हफ्ते भर के लिये खाने का सामान और किताबें लाद कर शहर जाते और सातवें दिन फिर पैदल वापस आते। रोज़ अपने हाथ से खाना बनाना पड़ता

स्वयं ही मल लेते थे। इस तपस्या से इन्हें दो बड़े
बी का नङ्गा रूप देख लिया और स्वभाव परिश्रमी,
कारी हो गया।
बई में मामूली नौकरी करते थे। ग़रीबी के कारण
ज्यादा न पढ़ सके और पढ़ाई छोड़ कर पिता के
। इन्हें भी रेलवे में नौकरी मिल गयी। नौकरी के
न्हें नागपुर और अजमेर में भी रहना पड़ा था।

आचार्य्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

तार बाबू का काम भी सीख लिया और तार बाबू
ईमान्दारी और लगन से काम करने के कारण क्रमशः
यी और कुछ वर्षों में झाँसी के टेलीग्राफ़-इन्सपेक्टर
ये। यहाँ पर उन्होंने एक नये क़िस्म का "लाइन
गइन का) ईजाद किया। तारबर्क़ी पर अंग्रेज़ी में
लिख डाला। इससे उनका बड़ा आदर हुआ।

रेलवे की नौकरी के ज़माने में भी उन्होंने अपना लिखना पढ़ना नहीं छोड़ा। अंग्रेज़ी, संस्कृत, फ़ारसी, मराठी और गुजराती भाषा का बराबर स्वाध्याय होता रहा और उन भाषाओं के पूर्ण पण्डित हो गये। झाँसी की नौकरी में कानपुर से इटारसी और आगरा से मानिकपुर का बराबर दौरा करना पड़ता था। पर, इस दौरे के दर्म्यान में बंगाली कर्मचारियों से बंगला भाषा भी सीखा करते थे। इस तरह एक साधारण परिस्थिति से रेलवे के ऊँचे ओहदे पर पहुँच कर भी इनका विद्या-व्यसन न छूटा। वास्तव में वह साहित्य की सेवा के लिये जन्मे थे और उसके लिये ईश्वर उन्हें तय्यार कर रहा था। अनेक भाषाओं के ज्ञान से अपनी भाषा को धनी बनाने में बड़ी सहायता मिलती है।

यदि द्विवेदीजी रेलवे कम्पनी की नौकरी में पड़े रहते तो कुछ वर्षों में बहुत ऊँचे पद पर पहुँच गये होते और बड़े आराम की ज़िन्दगी बिताते। पर संसार के महापुरुष आराम की ज़िन्दगी बिताने के लिये नहीं पैदा होते। वह व्यक्ति जो केवल अपने सुख के लिये जीता है, मरे हुए के समान है। यदि द्विवेदीजी रेलवे की नौकरी में पड़े रहते तो हिन्दी की शैली कैसे बनती, हिन्दी में "कुमार सम्भव सार," "रघुवंश," "हिन्दी महाभारत," "स्वाधीनता," "सम्पत्तिशास्त्र" अथवा "बेकन-विचार-रत्नावली" ऐसी अनोखी पुस्तकें उनकी लेखनी से कैसे निकलती, या हिन्दी-भाषियों में, उन्हीं के कारण, लिखने की जो रुचि उत्पन्न हुई थी, वह कैसे पनपती !

अस्तु, सन् १९०१ से नया सन् ही नहीं शुरू हुआ। हिन्दी के लिये नया युग शुरू हुआ। द्विवेदीजी ने अपनी नौकरी पर लात मारा और साहित्य-सेवा के क्षेत्र में कूद पड़े। उन दिनों यह काम बिलकुल रूखा, बेकार और दरिद्रता का लक्षण समझा जाता था।

हिन्दी में कुछ पत्र-पत्रिकायें निकल रही थीं पर उनका कोई 'स्टैण्डर्ड' नहीं था। इलाहाबाद में श्री चिन्तामणि घोष नामक प्रसिद्ध तथा दूरदर्शी व्यक्ति ने "इण्डियन प्रेस" खोला था और उसके द्वारा वह कुछ हिन्दी पुस्तकें निकाल रहे थे। उन्होंने इस सूबे में हिन्दी प्रचार के लिये काफ़ी काम किया और एक बंगाली होते हुए भी हिन्दी की जो सेवा उनके द्वारा हुई, वह सोने के अक्षरों में लिखे जाने योग्य है। घोष बाबू ने "सरस्वती" नामकी एक मासिक पत्रिका भी निकाला था। इनके कार्य की सफलता के लिये तथा "सरस्वती" के सौभाग्य से इनका और महावीर प्रसाद द्विवेदी का साथ हो गया—फिर क्या था—दो महापुरुष मिल गये! यह साथ ऐसा अटल था कि दोनों के जीवन में न छूटा। सन् १९०२ में द्विवेदीजी ने सरस्वती का सम्पादन-कार्य सम्भाला और १८ वर्ष तक उसके द्वारा हिन्दी की सेवा करते रहे। उनमें जो गुण और ज्ञान था, वह हिन्दी-साहित्य को प्राप्त हुआ।

द्विवेदीजी में भाषा को नये तथा अच्छे साँचे में ढालने की अनोखी प्रतिभा थी। वह यह जानते थे कि लोगों की क़लम पर बागडोर लगाने से, सभ्य तथा शिष्ट भाषा के लिखने से राष्ट्र का कल्याण होता है। इसीलिये, 'सरस्वती' के सम्पादन काल में उन्होंने किसी की परवाह न कर अपने ढंग से भाषा को सजाया और माँजा। कभी-कभी तो अपनी पत्रिका के अधिकांश लेख वह स्वयं ही लिख लेते थे। हरएक विषय के जानकार थे ही—हरएक विषयों पर लेख लिखते और लिखाते थे। व्याकरण के पण्डित थे। इसलिये जो लिखते, बिलकुल सही और दुरुस्त होता और किसी को उस पर क़लम उठाने की भी हिम्मत न होती। साहित्य की नयी धारा बहाने वाले को बड़ी मुसीबतें भी झेलनी पड़ती हैं किन्तु, द्विवेदीजी ने सब कुछ साहस पूर्वक सहा और

इसमे कोई सन्देह नही कि उनके मित्र और मालिक श्री चिन्तामणि घोष ने भी उनका पूरा साथ देकर उनका बल दूना कर दिया था

द्विवेदीजी ने भारतीयों के मन में हिन्दी के प्रति प्रेम पैदा कराने मे बड़ा काम किया। जो भी विद्वान् मिलता उसी से हिन्दी में लिखने का अनुरोध करते। मालवीयजी से भी उन्होंने हिन्दी में लिखने का अनुरोध किया और लिखाया। इसी अनुरोध के कारण "सरस्वती" में अच्छे लेख भी आने लगे। आजकल गल्प-कहानी के लोग बड़े शौक़ीन हैं। इसका लिखना भी उन्होंने शुरू कराया। भद्दे ढङ्ग की हँसी-मज़ाक़ बहुत ही रसीली और गन्दी कविताओं तथा बेकार के लेखों की प्रथा भी उन्होंने दूर की। ज़रा-सी बात नापसन्द आने पर वह अपनी मासिक पत्रिका को रद्द कर देते थे और छपाई के काम की परवाह न कर नये-सिरे से पत्रिका छापी जाती थी।

यहाँ पर इतना स्थान नहीं है कि हम द्विवेदीजी की हिन्दी-सेवा का पूरा इतिहास दे सकें, या उसकी महत्ता बता सकें या उसकी बारीकियों की छानबीन कर सकें। इतना ही लिख देना पर्य्याप्त है कि तीस वर्ष तक हिन्दी साहित्य के वे बादशाह रहे और उनकी धाक इतनी जमी रही कि लोग बहुत सम्हल कर लेखनी उठाते थे और आज, यद्यपि समय के अनुसार भाषा की शैली बहुत बदल गयी है, पर उसका यह विकास द्विवेदीजी के ही परिश्रम का फल है यह बात निर्विवाद है।

द्विवेदीजी में और भी अनेक गुण थे पर यह स्मरण रखना चाहिये कि उनके जीवन पर उनकी धर्मपत्नी का बड़ा प्रभाव पड़ा था। स्वयं वह लिखते हैं कि उनकी देवी-स्वरूपा पत्नी ने किस प्रकार उन्हें सच्चे रास्ते पर चलने में सहायता दी, आत्माभिमानी बनाया। द्विवेदीजी

को भी औरों की तरह से रसीली चीज लिखन का शौक चला और एक छोटी सी किताब लिख डाला उसे देखकर उनकी पत्नी न उन्हे इतना लज्जित किया कि तबसे फिर कभी अपनी क़लम को कलंकित नहीं किया। इनकी मृत्यु के उन्तीस वर्ष पहले ही पत्नी का वियोग हो गया था पर उनकी कीर्ति को स्थायी रखने के लिये द्विवेदीजी ने अपने ग्राम में, अपनी पत्नी की यादगार में एक "स्मृति-मन्दिर" बनवाया। लक्ष्मी और सरस्वती की प्रतिमा के साथ ही अपनी धर्म-पत्नी की मूर्त्ति भी स्थापित की। इसी मन्दिर के पास, उनकी धर्म-पत्नी का बनवाया हुआ एक मन्दिर है जिसमें हनुमानजी की मूर्त्ति है।

"सरस्वती" के सम्पादन से अवकाश लेकर द्विवेदीजी अपने ग्राम मे ही रहने लगे। पर, इनके भक्तों की टोली की टोली इनके दर्शन के लिये इनके ग्राम पहुँचती थी और मिहमानों की इतनी सेवा होती और द्विवेदीजी उनके खाने-पीने की सुविधा का इतना ध्यान रखते कि लोग मुग्ध हो जाते। अतिथियों के लिये एक अलग मकान "अतिथि-शाला" ही बनवा दिया था और बुढ़ापे में भी, स्वयं उनकी देखभाल रखते थे। यह कहना सही है कि उनकी आतिथ्य-सेवा आदर्श थी।

द्विवेदीजी पुराने ज़माने के आदमी थे। पर, उनके विचार बहुत ही उन्नत, सुधारवादी और नये ज़माने की ज़रूरतों की जानकारी से सुधरे हुए थे। इसीलिये उनके ग्राम के पुराने और खूसट लोग उनसे बुरा मानते थे। द्विवेदीजी स्वयं कहा करते थे कि मुझे मेरे ग्राम वाले 'द्विवेदी' 'दूबे' न कहकर "दुबौना" कहते हैं।

इनकी छियालीस वर्ष की उम्र में ही पत्नी का देहान्त हो गया। लोगों ने दूसरा विवाह करने के लिये बहुत आग्रह किया पर द्विवेदीजी ने एक न सुना। कोई सन्तान थी नहीं अतः इनका भाञ्जा और

उसकी पत्नी ही इनके जीवन के सर्वस्व थे। स्त्री जाति के प्रति उनके मन में बड़ी श्रद्धा थी। स्त्री-शिक्षा के कट्टर समर्थक थे। कभी किसी स्त्री को कष्ट में नहीं देख सकते थे। परिवार में स्त्रियों को परम सुखी रखने का बराबर उपदेश देते रहते थे।

बचपन से ही परिश्रम करने की आदत थी। जब तक आँख काम देती रही रोज़ का कार्यक्रम नियमित रूप से चलता रहा। समय पर उठते। समय पर भोजन करते। समय पर पढ़ते और नियमित समय पर ही आराम करते थे। कसरत रोज़ करते, घूमने रोज़ जाते। कुछ न कुछ रोज़ पढ़ते और सदैव विद्वानों की संगति की तलाश में रहते। बेकार कभी न बोलते और जब बात करते, तब नपी-तुली। इनकी बातों में और लेखनी में सभ्य हँसी और मज़ाक़ का बड़ा मज़ेदार पुट रहता था। बड़े सरल स्वभाव के व्यक्ति थे और बच्चों में बच्चे बन जाते थे।

कोई भी काम कल पर न छोड़ते। शिष्टता की तो मूर्त्ति थे। पत्र का जवाब तुरत देते। जिस किसी का लेख न छापना होता उसे भी निराश और लज्जित न होने देते। बुद्धि तीव्र थी, साथ ही आँखे भी बड़ी चतुर थीं; दूसरे के मन का भाव तो तुरत समझ लेते थे।

हिन्दी में इतना बड़ा सम्पादक और इतना पूज्य लेखक कोई नहीं हुआ। इन के निवास-स्थान को लोग (हिन्दी साहित्य सेवी) तीर्थ समझते थे और हैं। २१ दिसम्बर, १९३८ में, पचहत्तर वर्ष की आयु में इनका देहान्त हुआ और इनके देहान्त से हिन्दी भाषा भाषियों को महाभारत काल के भीष्म पितामह की मृत्यु के समान शोक हुआ। सन् १९३२ में भारतवर्ष ने बड़ी धूमधाम से उनकी सत्तरवीं वर्षगांठ मनाया था और १९३८ के अन्त में इस महा पुरुष के लिये श्रद्धाञ्जलि अर्पित की थी।

पं० बिशन नारायण दर

पं० बिशन नारायण दर की मृत्यु से हमारे प्रान्त का ही नहीं, हमारे देश का एक बहुत ही गम्भीर विद्वान्, पुस्तकों का अत्यधिक प्रेमी तथा विद्वानों का बहुत अधिक आदर करनेवाला संसार से चला गया। उनके एक शिष्य के शब्दों में—"उन की बुद्धि बहुत ही प्रखर थी तथा उन्होंने गम्भीर विचार करने की अद्भुत् क्षमता पाई थी। पढ़ने का तो व्यसन इतना अधिक था और स्वयं अपने पैसे से इतनी अधिक पुस्तकें खरीदते थे कि मरने के बाद वे बहुत ही अच्छी तथा पढ़ी हुई पुस्तकालय और पुस्तकों का संग्रह छोड़ गये।"

उन्हें अंग्रेज़ी लेखकों से बड़ा प्रेम था। कार्लाइल, हर्बर्ट स्पेंसर, हक्सले आदि के सभी ग्रन्थ पढ़ डाला और जॉन मारले लिखित ग्लैडस्टन की जीवनी का तीनों भाग समाप्त करने के बाद बड़े दुःख से बोले कि—"खेद है कि इस पुस्तक का चौथा भाग नहीं है।" अंग्रेज़ी कवियों में उन्हें बाइरन, शेक्सपियर, कीट्स, शेली इत्यादि से बड़ा अनुराग था और उनकी कविताएँ प्रायः पढ़ा करते थे। सन् १८९२-९३ के लगभग उर्दू काव्य की ओर भी उनका ध्यान गया। बहुत शीघ्र सभी उर्दू महाकवियों की कविताएँ पढ़ डालने की चेष्टा की और अपने अध्ययन के बाद महाकवि ग़ालिब और अनीस के भक्त हो गये। उर्दू के कवियों के बारे में इन की बड़ी ऊँची धारणा थी। कहा करते थे कि "वे सबसे सच्चे कवि हैं। अपने हृदय की बात को साफ़ कह देते हैं। उनके भीतर और बाहर एक ही भावना और प्रेरणा विराजमान है।"

पण्डित जी ने स्वयं भी उर्दू में कविता की। इनका एक काव्य "मुरक्क-ए-काश्मीर" (काश्मीरी पण्डितों का काश्मीर से मैदान वाले प्रान्तों में आना) बहुत ऊँचे दर्जे का उर्दू काव्य समझा जाता है। इनकी शायरी का कुछ नमूना देखिये :-

है बेकारी भी इस खुमखानए आलम में बाकारी।
जो ख़ाली बैठे हैं वह उम्र का पैमाना भरते हैं॥

*   *   *

नीयते पाक है काफ़ी है तहारत के लिये।
न वजू चाहिये जाहिद न तयम्मुम मुझको॥

*   *   *

असर हो सुनने से कानों को या न हो लेकिन।
जो फ़र्ज़ था वो अदा कर चुकी ज़बाँ अपनी॥

*   *   *

बच्चों को मा की गोद भी मक़तब से कम नहीं।
इस मदरसे में हाजते लौह वो क़लम नहीं॥

*   *   *

इनके एक दूसरे शिष्य की सम्मति में "मानसिक प्रतिभा की दृष्टि से वह भारत के इने-गिने लोगों में से थे और इसमें तो कोई भी सन्देह नहीं कि उनकी पीढ़ी में, उनके समान विद्वान् और प्रखर बुद्धि वाला कोई पैदा ही नहीं हुआ।"

पं० बिशन नारायण अंग्रेज़ी बहुत अच्छी लिखते और बोलते थे। उनकी लेखनी में एक धारा-प्रवाह होता था जो इङ्गलैण्ड के बड़े-बड़े विद्वान् लेखकों की लेखनी में भी नहीं प्राप्त हो सकता था। लोग उनकी लेखन तथा भाषण शैली को उस ज़माने की प्रथम श्रेणी में रखते

खने का इतना अच्छा अभ्यास था कि जब चाहते,
चाहते, आसानी से लिख सकते थे। पढ़ा-गुना-
रणक विषय पर था। बहुत पढ़ते और बहुत सोचते
केसी भी विषय पर न तो चित्त चञ्चल होता था

पं० बिशननारायण दर

ही घबड़ाता था। चाहे राजनैतिक क्षेत्र हो या
के विचार स्पष्ट और बिना उलझन के होते थे।
पर कुछ और प्रकाश डालने के पहले यह आवश्यक
जीवनी पर भी थोड़ा प्रकाश डाला जावे। वह
ग थे। सन् १८६४ में उनका जन्म हुआ था और
धेकांश भाग लखनऊ में ही बीता। बचपन से ही

बुद्धि बड़ी कुशाग्र थी और सदैव कुछ न कुछ पढ़ते रहने का आदत थी इसलिये बहुत जल्दी स्कूल की पढ़ाई समाप्त कर ली जब उनके परिवार ने यह निश्चय किया कि वह वकालत का पेशा करें और विलायत से बैरिस्टरी पास करें तो दर साहब सन् १८८४ में विलायत गये और १८८७ तक वहीं रहे। इङ्गलैण्ड के बहुत ही खर्चीले जीवन से बचने के लिये वह कभी कभी स्विट्ज़रलैण्ड चले जाते और वहाँ के प्राकृतिक स्थानों के बीच बैठ कर पुस्तकों के अध्ययन में लीन हो जाते थे। अपनी इङ्गलैण्ड-यात्रा का उन्होंने पूरा फ़ायदा उठाया। अधिक से अधिक ग्रन्थ पढ़े। अधिक से अधिक प्रमुख अंग्रेज़ों से मिले, उनसे परिचय प्राप्त किया और उनको समझने की कोशिश की। अपने इसी अध्ययन काल में दर साहब ने प्रभावोत्पादिनी अंग्रेज़ी लिखना सीखा और यहीं इङ्गलैण्ड में ही इनका पहला अंग्रेजी लेख लिखा गया तथा प्रकाशित हुआ। विलायत से लौट कर वकालत शुरू कर दी और उसमें बहुत नाम और धन भी कमाया। अवध में वे पहले बैरिस्टर थे।

विलायत की यात्रा तथा पाश्चात्य विद्वानों के सम्पर्क में आने के कारण दर साहब को पाश्चात्य सभ्यता पर बड़ी श्रद्धा हो गयी थी और वह अपने देश में भी पाश्चात्य उन्नत विचारों तथा व्यवहारों का प्रचार चाहते थे। किन्तु; अपने जीवन में पाश्चात्य तथा प्राच्य सभ्यता का उन्होंने इतना सुन्दर सामञ्जस्य किया था कि उसको आदर्श कहना ही उपयुक्त होगा। न तो वह अपने देश की रीति-रिवाज़ को नष्ट कर डालने की इच्छा रखते थे और न पाश्चात्य देशों की बातों को परदेशी समझ कर उनसे घृणा करने की कोई आवश्यकता समझते थे।

स्वयं वह बहुत ही सादी चाल से रहते थे। उनका कमरा, उनका

मकान, उनके चारों तरफ़ के वातावरण मात्र से सादगी टपकती थी। समाज-सुधार के कट्टर पक्षपाती थे और खान-पान का भेद भाव या जाति-पाँति का बन्धन उन्हें ज़रा भी स्वीकार नहीं था। वह भारत की हरएक सन्तान को आदर तथा श्रद्धा के भाव से देखते थे।

एक विचित्र बात यह थी कि वह शुरू में नास्तिक हो गये थे। संसार में सत्य को ही प्रधान मानते थे और ईश्वर की सत्ता पर उन्हे विश्वास या भरोसा कुछ भी न था। किन्तु, जीवन के अन्तिम युग में घर तथा परिवार की परिस्थिति से हो या निजी बीमारी के कारण हो या शुरू से ही उनके मन में इस विषय में जो शङ्का-सी थी उसके ही कारण हो वह ईश्वर में और कर्मफल में विश्वास करने लगे थे पर यह स्पष्ट कहा करते थे कि "यदि मुझ से कहा जावे कि वैज्ञानिक रूप से ईश्वर की व्याख्या कर दूँ और यह समझाऊँ कि मैं कर्म को क्यों प्रधान मानता हूँ तो मैं कोई भी उत्तर नहीं दे सकूँगा।"

पं० बिशन नारायण दर बड़े दृढ़-निश्चयी पुरुष थे। जब, जिस बात का निश्चय कर लेते, उसे पूरा करते। वचन के बड़े धनी थे। भारत की दुर्दशा से उन को बड़ा कष्ट होता था अतएव उन्होंने देश-सेवा का व्रत लिया और राजनैतिक जागृति के काम में लग गये। उन्होंने सोये हुए भारत को जगाने की इतनी चेष्टा की, इतना परिश्रम किया कि आज उनको हम आदर के साथ "भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माताओं" की श्रेणी में बिठाते हैं।

उनके विषय में यह सत्य कहा गया है कि वह समय की प्रगति के साथ स्वयं प्रगति करते जाते थे। देश की नाड़ी पहचानने की उन मे बड़ी योग्यता थी। जनता से ऐसी बात कहना जो वह समझ न सके—ऐसी भूल पं० बिशन नारायण दर, ऐसे व्यक्ति के लिये असम्भव थी।

वह सच्चे देश भक्त थे प्रचण्ड देशभक्ति के हिमायती थे उनका कहना था कि प्रचण्ड रूप से देशभक्त बनो। ऐसी देशभक्ति करो कि उसमें कोई तुम को रोक न सके, बाधक न हो सके और हरएक सामाजिक कुरीतियों से युद्ध करने के लिये तय्यार रहो। सन १८९६ में ही उन्होंने लिखा था कि :--

"राजनैतिक बुराइयों का प्याला इतना भर गया है, सामाजिक अन्यायों का बोझ इतना भारी और बर्दाश्त के बाहर हो गया है तथा पुरानी रीति का अत्याचार इतने घृणित और भीषण रूपसे हमारे सामने है कि अब हमारी राष्ट्रीय मुक्ति के लिये यह आवश्यक है कि सबमें सैनिक अथवा तीव्र रूप का स्वदेश-प्रेम जागृत हो जावे। ऐसी कोमल देशभक्ति नहीं चाहिये कि हाथ पर हाथ धरें, उस दिन की प्रतीक्षा की जावे जब कि गुलाब जल से छिड़क कर सुधार की क्यारी हरी कर दी जावेगी और आप से आप देश में सब कल्याण हो जावेगा। हमें तो ऐसे देश-प्रेम की आवश्यकता है जिसमें आत्म-निर्भरता हो, सुरक्षित बैठने वाले मनुष्य के हिसाब-किताब को या अनुमान को उलट-पुलट कर देने की शक्ति हो तथा जो निराश प्राणियों की आशाओं को अपने साथ लेकर, उनका नेतृत्व कर आगे बढ़ सके।"

आजकल शिक्षा की प्रणाली की बहुत-सी आलोचनायें होती हैं। पर आज के तीस वर्ष पहले उस समय की शिक्षा-प्रणाली की जो आलोचना पं० बिशन नारायण दर ने की थी, वह आज भी उसी तरह से लागू होती है जैसे उस समय थी। आप लिखते हैं -"हमारी वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली व्यक्ति की प्रारम्भिक स्थिति तथा राष्ट्रीय सत्ता को ही भूल जाती है। वह नवीन सामाजिक तथा राजनैतिक

परिस्थितियों का ध्यान भी नहीं रखती और उसे यह पता ही नहीं है कि उपरिलिखित से समाज को क्या हानि लाभ हो रहा है ”

हिन्दुओ में धर्म की दुहाई देने की आदत-सी पड़ती जा रही है। इस विषय में पण्डित जी के बहुत ही रोचक और ठोस विचार पढ़िये। आप लिखते हैं :—

“हिन्दोस्तान में हरएक चीज़ मज़हबी सूरत इख्तियार कर लेती है। अंग्रेज़ी की साधारण शिक्षा से ही धार्मिक कल्पना और स्वप्न भङ्ग हो जाता है और हमारे बच्चे पुरानी चीज़ों को हास्यास्पद समझने लगते हैं। परम्परा-धर्म का महत्व जाता रहता है। शङ्का का प्रारम्भ होते ही, सत्य की खोज शुरू होती है। जहाँ पर मत-भेद होता है, तर्क के द्वारा, न कि किसी की प्रामाणिक बातों को आँख मूँद कर स्वीकार कर लेने से, सत्य का निर्णय होता है।...युवक हिन्दू के स्वभाव से अब धार्मिक जोश निकलता जा रहा है और जब वह किसी मुसलमान से, किसी मज़हबी मामले पर, चाहे वह गो-कुशी या किसी अन्य विषय पर हो —झगड़ता है तो उसका कारण धार्मिक जोश नहीं पर राजनैतिक या अन्य भौतिक लाभ की भावना होती है।”

पं० बिशन नारायण दर का सबसे सुन्दर लेख, जो हमारी दृष्टि में भारतीयों द्वारा लिखे बहुत ही उच्च कोटि के लेखों में स्थान रखता है, “नवीन भारत में प्रतिभा का ह्रास” है। इसका उद्धरण देकर हम इसका आनन्द पाठकों को नहीं दिला सकते। उसके प्रत्येक शब्द पढ़ने योग्य हैं। उस लेख में स्पष्ट-वादी निर्भीक लेखक ने साफ़ कह दिया है कि दिन-ब-दिन हमारे देश की दशा गिरती जा रही है, हमारे यहां महान् पुरुष अथवा महान् ग्रन्थों का जन्म लेना ही बन्द हो गया है। हिन्दू निर्बल हैं, मुसलमान बहुत गिरी हालत में,

अपढ और अपनी सत्ता को भूल कर गलत रास्ते पर चल रहे हैं और अगर हम को अपने देश का भला करना है तो बहुत सावधानी के साथ काम करना चाहिये।

अस्तु, अपनी राष्ट्रीय सेवा के कारण ही उन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस के २६ वें अधिवेशन, कलकत्ता में, सन् १६११ में सभापति का आसन ग्रहण किया था और उस समय का उनका भाषण अभी तक बड़े चाव से पढ़ा जाता है। १६१६ में कांग्रेस का ३१ वॉ अधिवेशन लखनऊ में होने वाला था। उसके सभापति श्री अम्बिका चरण मजूमदार थे तथा स्वागताध्यक्ष श्री बिशन नारायण दर थे। किन्तु, अधिवेशन के पहले ही उन्हें क्रूर काल उठा ले गया और उनका स्थान पं० जगत नारायण मुल्ला को लेना पड़ा।

सन् १६१६ के अन्तिम मास में पण्डित जी का देहान्त हुआ। वह लगभग दस वर्ष तक बीमार रहे। उन्हें बहुत दिनों तक अल्मोड़ा रहना पड़ा था। उनका स्वास्थ्य बहुत गिरता जाता था पर पुस्तकों से प्रेम नहीं छूटता था। उपन्यास, ख़ास कर नित्य निकलने वाले चालू उपन्यासों से उनको बड़ी नफ़रत थी। वह चाहते थे कि हरएक व्यक्ति गम्भीर पुस्तकों का साथी बने।

लम्बी बीमारी के बाद उन्होंने शरीर छोड़ा। यदि उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता तो वह देश की कितनी अधिक सेवा करते तथा उसे कितने अच्छे ग्रन्थ तथा रचनायें प्रदान करते—यह अनुमान कर बड़ा क्लेश होता है।

उन का जीवन दूसरों की—समाज की—देश की सेवा में बीता। धन्य हैं वे :—

परहित लागि तजहिं जो देही।
संतत सन्त प्रसंसहिं तेही॥

डा० गणेश प्रसाद

"स्वभाव के बहुत ही सरल, वेष-भूषा में बहुत ही सादे और बातचीत में बहुत ही आकर्षक"--डा० गणेश प्रसाद का यही परिचय है। गणित के इस संसार-प्रसिद्ध विद्वान् के सम्पर्क में आते ही चित्त को इतना सन्तोष और बुद्धि को इतना भोजन मिलता था कि साथ छोड़ने का जी नहीं चाहता था। जब कभी, जो भी इनके साथ रहा, वही उनका भक्त हो गया। वह इतने सीधे, सादे और बच्चों की तरह मिलनसार थे कि इनके साथी इनको देवता समझते थे। अपने शिष्यों पर जान देते थे, उनका भविष्य बनाने के लिये अपने मार्ग से दूर चले जाना, हर तरह की चेष्टा करना और उनके जीवन को उन्नत बना कर ही चैन लेना, इनकी विशेषता थी। इसी का परिणाम है कि आज भारत के कोने-कोने में इनके पढ़ाये विद्यार्थी बहुत ही अच्छे स्थानों पर हैं और भगवान की तरह उनकी पूजा करते हैं। आजकल गुरु-शिष्य का इतना स्नेह कम देखने को मिलता है।

स्वाभिमान तथा आत्म-सम्मान की भावना इतनी कट्टर थी कि कभी-कभी उन्हें संकटों का भी सामना करना पड़ता था। पर, आत्म-प्रतिष्ठा के आगे किसी भी विपत्ति की परवाह नहीं करते थे। चरित्र के इतने बलवान थे कि एक बार जब वह संयुक्त प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के चुनाव के लिये (सन १९२४ में) खड़े हुए थे --एक आदमी के पास वोट माँगने के लिये इसलिये जाना अस्वीकार कर दिया कि वह दुश्चरित्र था।

"ऊचे विचार-सादी चाल" की प्रतिमूर्त्ति थे। प्राचीन दार्शनिकों की तरह बहुत ही सादगी से रहना और बहुत ही ऊँचा भाव रखना यह उनकी विशेषता थी। कभी कोट फटा है, टोपी फटी है, पैण्ट में पैवन्द लगी है—पर इनको कोई परवाह नहीं। अच्छी खासी तनख़्वाह हो या न हो—एक सी चाल-ढाल! ग़रीबों को रुपया देना, पढ़ाना-लिखाना और उनकी जीविका लगा देना, बस इसी में उनको आनन्द मिलता था। अपने चरित्र और मन पर इतना कड़ा नियन्त्रण रखते कि कभी आलस्य या तन्द्रा पास फटकने तक न पाती। स्वतंत्रता के भी बड़े भक्त थे। लेजिस्लेटिव कौंसिल में सरकार को इनसे बड़ी कड़ी आलोचनाएँ सुननी पड़तीं। राजनीतिक दृष्टि से यह किसी दल या पार्टी में न थे। स्वतंत्र रूप से हरएक कार्य करते और देश और समाज की सेवा करते। मित्र कम बनाते और जब बनाते तो पूरा साथ निभाते। सामाजिक विचार बहुत ही उन्नत थे और प्राचीन रूढ़ियों की कटु आलोचना किये बिना कभी न चूकते। अनाथ और विधवाओं की दुर्दशा का वर्णन करते-करते रो पड़ते। हँस-मुख ऐसे थे कि स्वयं काफ़ी हँसते और साथियों को भी मगन रखते।

ऐसे महान् व्यक्ति का जन्म सन् १८७६ की १५वीं नवेम्बर को, मध्यम श्रेणी के एक श्रीवास्तव कायस्थ परिवार में बलिया ज़िले में हुआ था। बलिया के ही हाई-स्कूल की शिक्षा पूरी कर वह इलाहाबाद के म्योर सेन्ट्रल कालेज में भर्त्ती हो गये। हाई-स्कूल की परीक्षा में वह प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए थे और इलाहाबाद में सन् १८९५ में बी. ए. की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में पास हुए तथा गणित में "विशेषता" प्राप्त की। बचपन से ही गणित-शास्त्र में इनकी विलक्षण तीव्र गति थी और इनके अध्यापक भी इनकी गणित की योग्यता का लोहा मानते थे।

ें इलाहाबाद और कलकत्ता दोनों स्थानों से एक
शेष योग्यता के साथ गणित में सफलता प्राप्त की
त शास्त्र लेकर ही डाक्टर ऑव् साइन्स डी. एस-
गी। इतने विद्वान् गणितज्ञ विद्यार्थी को इतनी
 नहीं हुआ। पर, धनाभाव के कारण वह और
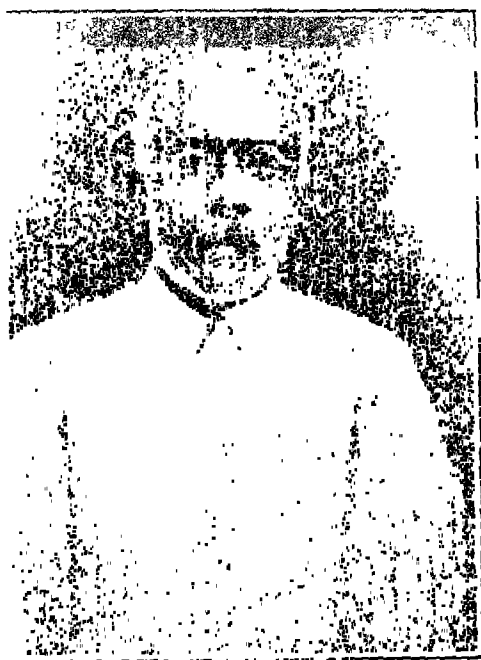
डा० गणेश प्रसाद

सके अतएव इलाहाबाद की प्रसिद्ध संस्था का
णत के प्रोफ़ेसर हो गये। दो वर्ष नौकरी करने के
चा, उसे लेकर विलायत जाने की तय्यारी कर ही
तीय सरकार भी इनकी विद्या से प्रभावित हो
को विलायत जाने के लिये छात्र-वृत्ति दी।

गणित के अधिक परिपक्व अध्ययन के लिये वह कॉम्ब्रिज विश्वविद्यालय में भर्ती हो गये और वहाँ गणित के विद्यार्थी तथा अन्वेषक और पण्डित के रूप में इनकी इतनी अधिक ख्याति हुई कि इङ्गलैण्ड भर में इनका नाम फैल गया।

इङ्गलैण्ड से यह जर्मनी चले गये। इनकी विद्वत्ता से दो विद्वान् जर्मन प्रोफ़ेसर, फ़ेलिक्स क्लीन और डैविड हिल्बर्ट इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने इनकी शिक्षा का पूरा प्रबन्ध कर दिया और यहीं पर विश्व-प्रसिद्ध रॉयल सोसाइटी ऑव् साइन्सेज़, गोटिंगन से इनका पहला गणित विषयक खोजपूर्ण लेख—"पदार्थ की रचना तथा उष्णता की वैश्लेषणिक मीमांसा" प्रकाशित हुई। इसके प्रकाशित होते ही यूरोप के विद्वानों में हलचल मच गयी और सबका ध्यान इनकी ओर आकर्षित हो गया।

यूरोप में काफ़ी यश प्राप्त कर तथा अपना अध्ययन पूरा कर डा० गणेश प्रसाद देश लौटे और आते ही इलाहाबाद के म्योर सेण्ट्रल कालेज में गणित के प्रोफ़ेसर नियुक्त हो गये। सन् १९०५ में उन्होंने काशी के प्रसिद्ध क्वीन्स कालेज में गणित के अध्यापक का स्थान ग्रहण किया और सन् १९१४ तक वहीं रहे। इस बीच में उनकी खोज, उनकी लिखी अद्भुत लेख-माला बढ़ती गयी और यश चरम सीमा पर पहुँच गया।

इसी समय कलकत्ता विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर सर आशुतोष मुकर्जी की दृष्टि इन पर पड़ी। वह सदैव प्रकाण्ड पण्डितों की तलाश में रहते थे। उन्होंने बड़े आग्रह से डा० गणेश प्रसाद को अपने यहाँ बुला लिया और डाक्टर साहब कलकत्ता विश्वविद्यालय में गणित के प्रोफ़ेसर हो गये। किन्तु, ऐसे विद्वान् का अपने प्रान्त से बाहर जाना युक्त प्रान्त

को अच्छा न लगा। प० मदनमोहन मालवीय तथा श्रीमती बेसेण्ट इत्यादि के आग्रह से वह सन १९१७ में सेण्ट्रल हिन्दू कालेज, बनारस के गणित के अध्यापक तथा प्रिंसिपल होकर वापस आ गये। यहाँ पर वह सन् १९२३ तक काम करते रहे--जब सेण्ट्रल हिन्दू कालेज "बनारस विश्वविद्यालय" हो गया तब डाक्टर साहब विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर हो गये थे तथा इस विश्वविद्यालय की स्थापना में बड़ी सहायता भी की थी। इन्हीं दिनों डाक्टर साहब ने बनारस के गणितज्ञों की एक सभा स्थापित की जिसका नाम "बनारस मैथमेटिकल सोसाइटी" था। उनकी यह आन्तरिक इच्छा न पूरी हो पायी कि इस सभा का एक बड़ा भवन और पुस्तकालय बन जावे!

कलकत्ता विश्वविद्यालय ने सन १९२३ में पुनः इन्हें अपनी ओर खींच लिया और यहाँ रह कर इन्होंने गणित की और भी व्यापक सेवा की। इन्हीं दिनों अर्थात् १९२४-२७ तक, डाक्टर साहब युक्त प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के "स्वतंत्र राष्ट्रीय विचार" के सदस्य भी थे और उस समय कौंसिल के इनके व्याख्यान पठनीय हैं। कलकत्ता "मैथमेटिकल सोसाइटी" के वह सभापति निर्वाचित हुए और मरण पर्य्यन्त तक इस पद को सुशोभित करते रहे। इनके पहले, इस संस्था के सभापति सर आशुतोष मुकर्जी थे।

सन १९३२ में, विद्वन्मण्डली की प्रसिद्ध संस्था, "इण्डियन साइन्स कांग्रेस" का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ। इसके गणित-विभाग के अध्यक्ष डा० गणेश प्रसाद ही चुने गये।

डाक्टर साहब ने गणित-शास्त्र की सेवा करने के अतिरिक्त इस विषय की ओर भारतीयों की रुचि बढ़ाकर देश का बहुत बड़ा कल्याण किया। स्वयं अपना जीवन उन्होंने इसी शास्त्र पर उत्सर्ग कर रखा

था। दिन-रात गणित की ही चर्चा में मगन रहते। अपनी इसी धुन में उन्होंने अनेक नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये। इन सिद्धान्तों को एक दो वाक्य में समझाना भी कठिन है—और इस लेख में गणित के सिद्धान्तों को समझाने की गुञ्जायश भी नहीं है।

डा० गणेश प्रसाद ने गणित शास्त्र के लिये कितना बड़ा काम किया है, यह इसी बात से स्पष्ट है कि अपने छोटे-से जीवन में उन्होंने "शोध अथवा खोज" के ५२ निबन्ध प्रकाशित कराये तथा दस पुस्तकें लिखीं। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक -"उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ महान गणितज्ञ" के दो भाग वह लिख चुके थे। तीसरा भाग बिना समाप्त किये ही उनकी मृत्यु हो गयी, अन्यथा यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ पूरा हो जाता।

ऐसे विद्वान् तथा सरल महापुरुष का देहान्त ९ मार्च सन् १९३५ को हुआ। वह आगरा विश्वविद्यालय की कार्य कारिणी समिति की बैठक में भाग ले रहे थे कि यकायक मस्तिष्क के रक्त की नली फट जाने के कारण उनकी मृत्यु हो गयी।

५९ वर्ष की अवस्था में ही डा० गणेश प्रसाद की सांसारिक लीला समाप्त हो गयी! यदि भगवान ने उन्हें न बुला लिया होता तो हमें अभी और अनेक अनमोल गणित-ग्रन्थ प्राप्त होते।

डा० भगवानदास

बहुत कम भारतीय विद्वानों का पाश्चात्य पण्डितों द्वारा इतना आदर हुआ है जितना डाक्टर भगवानदास का। इनकी लिखी पुस्तकों का जर्मन, फ्रेञ्च, स्पैनिश तथा नारवीजियन भाषा तक में अनुवाद हो चुका है। इनकी विद्या से ही प्रभावित हो कर, उन्हें आदरित करने के लिये काशी हिन्दू विश्व विद्यालय ने सन् १६२८ में इन्हें "डाक्टर आव् लिटरेचर" की उपाधि से विभूषित किया था और इसी उपाधि द्वारा सन् १६३६ में प्रयाग विश्व-विद्यालय ने इन्हें अलंकृत किया था।

डाक्टर भगवानदास केवल साहित्य के ही पण्डित नहीं हैं। संसार में इनकी "दार्शनिक" के रूप में अधिक ख्याति है। विश्व के प्रकाण्ड दार्शनिकों में उनकी गणना है। उनका बहु-भाषा ज्ञान तथा बहु-विषय ज्ञान भी प्रसिद्ध है। अरबी, फ़ारसी, संस्कृत, बंगला, मराठी इत्यादि भाषाओं के वह पण्डित हैं। हमने स्वयं उनको गूढ़ से गूढ़ विषयों पर अध्ययन करते देखा है। भूगोल, इतिहास, विज्ञान, समाजवाद और क़ानून की पुस्तकें भी उनसे नहीं छूटतीं। उनके लिये यह उक्ति सर्वथा सत्य है कि :—

अजराऽमरवत् प्राज्ञो
विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीतमिव केशेषु
मृत्युना धर्ममाचरेत्॥

अर्थात्, बुद्धिमान व्यक्ति अपने को अजर और अमर समझ कर विद्या पढ और धन कमावे साथ ही यह सोच कर कि मौत ने उसका बाल पकड़ रखा है, सदैव धर्म का आचरण करे।

डा० भगवानदास के सामने धन की समस्या कभी नहीं रही और उन्होंने इसकी कभी चिन्ता भी नहीं की। यदि वह चाहते तो अपने कुल-धर्म के अनुसार व्यवसायी बन सकते थे पर उनको अपनी दूसरी ही धुन थी। उन्हीं का अनुकरण कर उनके दोनों पुत्रों ने भी विद्या और देश की सेवा का ही व्रत लिया। ज्येष्ठ पुत्र श्री श्रीप्रकाश ने विलायत से बैरीस्टरी पास करने पर भी वकालत नहीं की और देश-सेवा में लग गये। इसके लिये वह जेल भी दो बार गये और आजकल केन्द्रीय व्यवस्थापक महासभा यानी सेन्ट्रल असेम्बली के कांग्रेसी सदस्य और भारत के प्रसिद्ध नेता हैं। उन्होंने काशी के प्रसिद्ध दानवीर श्री शिवप्रसाद गुप्त द्वारा स्थापित श्री काशी विद्यापीठ नामक विश्वविद्यालय की उसके जन्म-काल से ही सेवा का व्रत ले रखा है। उनके छोटे भाई श्री चन्द्रभाल अंग्रेज़ी के अच्छे ज्ञाता हैं और सन १६३७ में कांग्रेस सरकार के शासन में युक्त प्रान्तीय सरकार के पार्लीमेण्टरी सेक्रेटरी रह चुके हैं।

अस्तु, डाक्टर साहब का जन्म, बड़े सम्पन्न और प्रसिद्ध परिवार में, १२ जनवरी, सन् १८६९ में काशी में हुआ था। इनके पिता बाबू माधवदास बनारस के प्रसिद्ध ज़मींदार और बैंकर (लेन-देन का व्यवसाय करने वाले) थे। इस वंश को शाह वंश कहते हैं और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इतिहास में इसका वर्णन पाया जाता है। इन्हींके पूर्वज बाबू मनोहरदास शाह (१७२०-१८०४) ने कलकत्ता में "मनोहरदास का कटरा" नामक प्रसिद्ध बाज़ार बनवाया

तक कलकत्ता के व्यवसाय का केन्द्र

दास जी स्वयं बड़े विद्वान् और संयमी पुरुष थे
देशों और आदर्शों का डा० भगवानदास के ब
ा प्रभाव पड़ा। इनकी माता बड़ी शीलवंत
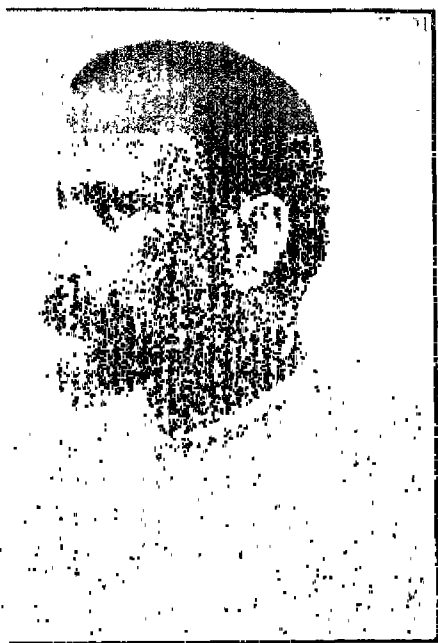
डा० भगवानदास

न्हीं से शील तथा दया का उपदेश भगवान
ला। बचपन से ही इनकी प्रखर तथा तीव्र
हो जाते थे। जो कुछ पढ़ते, तुरत याद हो ज
जोड़ का दूसरा कोई छात्र न था। इस प्रका
उम्र में ही इन्होंने मैट्रिक की परीक्षा पास कर ली

उस समय के श्रेष्ठ कालेजों में विख्यात क्वीन्स कालेज में भर्ती हो गये सन् १८९० में अर्थात् १९ वर्ष की छोटी उम्र में ही उन्होंने दर्शन शास्त्र में एम. ए. की परीक्षा पास कर ली।

पढ़ाई समाप्त कर वह सरकारी नौकरी करने लगे। तहसीलदार के पद पर नियुक्त होकर वह "डिप्टी कलक्टर" के बड़े ओहदे तक पहुँच गये। पर इनके ऐसे महान पुरुष सरकारी नौकरी के लिये नहीं पैदा होते। उनका अधिकांश समय सामाजिक-धार्मिक कार्यों में बीतता। उन्हीं दिनों, बनारस में, सन् १८९८ में, बनारस सेण्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना हुई थी। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने काशी को ही अपना घर बना लिया था और उनके नेतृत्व में थियोसोफ़िकल सोसाइटी की काशी-शाखा बहुत उन्नति कर गयी थी। इस संस्था का उद्देश्य "सब धर्मों को समान आदर की दृष्टि से देखते हुए, सब के पीर-पैगम्बरों का आदर करते हुए, विश्व में बन्धुत्व तथा समानता की सत्ता स्थापित करना" था। हिन्दू कालेज का उद्देश्य "हिन्दू संस्कृत की रक्षा करते हुए, उच्चतम शिक्षा देना" था। इसकी वास्तविक संस्थापिका भी श्रीमती बेसेण्ट थीं।

मिसेज़ बेसेण्ट के उच्च आदर्श और उद्देश्य ने भारत के बड़े बड़े विद्वानों और समाज-सेवियों को आकर्षित किया। उस समय हमारे देश में अद्भुत जागृति हो रही थी। पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में आकर अधिकांश हिन्दू-मुसलिम युवक, अंग्रेज़ी शिक्षा पाकर, अपनी असलियत भूल जाते और आँख मूँद कर पश्चिम का अनुकरण करने लगते थे। ऐसे भ्रान्तों में देश-प्रेम, धर्म-प्रेम और अपनी सभ्यता से प्रेम का बीज अंकुरित करना आवश्यक था। कलकत्ता में यह कार्य ब्रह्म-समाज कर रहा था। काशी में थियोसोफ़िकल सोसाइटी और हिन्दू कालेज ने बहुत उपयोगी कार्य किया।

श्रीमती बेसेण्ट के चारों ओर विद्वानों और देश-सेवा करने वालों की टोली इकट्ठा होने लगी। विदेशी होते हुए भी वह भारत-भक्त थी। अतः डा० भगवानदास को उनमें एक ऐसा नेता तथा साथी मिला जिसमे उनका मन और कार्य मिलता था। श्रीमती को भी एक प्रकाण्ड पण्डित, रईस तथा बुद्धिमान अनुयायी मिला। दोनों का साथ हो गया और भगवानदास उनको अपनी "आध्यात्मिक माता" मानने लगे। हिन्दू कालेज की स्थापना में उन्होंने बड़ा परिश्रम किया और उसके "बोर्ड आव ट्रस्टीज़" के अवैतनिक मंत्री तथा प्रबंधकारिणी समिति के भी मंत्री हो गये। कुछ समय तक वह कालेज की पत्रिका का सम्पादन भी करते रहे। इस प्रकार, इस कालेज के साथ उनका १६ वर्ष तक (सन् १६१४) बराबर सम्बन्ध बना रहा। सन् १४ में, पं० मदनमोहन मालवीय के प्रयत्न से कालेज ने हिन्दू विश्वविद्यालय का रूप धारण किया और सन् १६१५ में तत्कालीन बड़े लाट हार्डिञ्ज ने इसकी नींव रखी। इस विश्वविद्यालय की अनेक शाखाओं तथा केन्द्रीय प्रबन्ध कारिणी के साथ भी डाक्टर साहब का ७ वर्ष तक सम्बन्ध रहा। सन् १६२१ में राष्ट्रीय ढंग से शिक्षा देने के लिये प्रसिद्ध विश्वविद्यालय काशी विद्यापीठ खुला। उस समय डाक्टर साहब ने हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रबन्ध कारिणी की मेम्बरी के अतिरिक्त, अन्य सब सम्बन्ध छोड़ दिया और विद्यापीठ के प्रधान, आचार्य तथा "कुलपति" के आसन पर बैठे।

थियोसोफ़िकल सोसाइटी तथा श्रीमती बेसेण्ट के सहयोग में आने पर उनका अध्ययन और भी बढ़ गया। दृष्टि और भी व्यापक हो गयी। सभी धर्म और मज़हब के प्रति हमदर्दी, आदर, सम्मान बढ़ गया और देश-सेवा की ओर चित्त और भी प्रवृत्त हो

उठा। सरकारी नौकरी में जी न लगा और हिन्दू कालेज खुलने के एक वर्ष बाद ही, सन् १८९९ में नौकरी छोड़ कर समाज-धर्म-देश के काम में जुट गये। सन् १८८४ से उनका श्रीमती बेसेण्ट का साथ हुआ था, पर १९१६ में कुछ धार्मिक तथा राजनैतिक मतभेद के कारण इन्होंने उनसे अपना क्रियाशील सहयोग समाप्त कर दिया और स्वतंत्र रूप से कार्य करने लगे। फिर भी, श्रीमती बेसेण्ट के प्रति उनका सम्मान, आदर तथा भक्ति पूर्ववत् बनी रही और वह भी इनको पुत्र की तरह प्यार करती थीं।

सन् १९१६ तक डा० भगवानदास की कई पुस्तकें (अंग्रेज़ी में) प्रकाशित हो चुकी थीं और देश-विदेश में उनका नाम और यश फैल रहा था। पर, भारत की राजनैतिक स्थिति ऐसी न थी कि वह केवल देश की साहित्यिक, धार्मिक तथा सामाजिक सेवा करते। उनको राजनीतिक-क्षेत्र में भी कूदना पड़ा। सन् १९१७ में, जिन दिनों पिछला महायुद्ध चल रहा था, श्रीमती बेसेण्ट नज़रबन्द की गयीं। इसी समय से डाक्टर साहब भी राजनीति में कूद पड़े। इस नज़र-बन्दी के विरोध में काशी में महती सभा हुई जिसके वह सभापति बने। सन् १९२१ में गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन शुरू किया। काशी विद्यापीठ की नींव डालने के लिये महात्मा गाँधी स्वयं काशी पधारे थे। डा० साहब भी असहयोग के पक्षपाती बन गये थे। १९१९ में, मुरादाबाद में युक्तप्रान्तीय राजनैतिक सम्मेलन हुआ जिसके अध्यक्ष डा० भगवानदास बनाये गये। १९२१ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कलकत्ता अधिवेशन का अध्यक्ष होने का गौरव भी उन्हें प्राप्त हुआ और इसी वर्ष वह संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष चुने गये। असहयोग आन्दोलन के ही कारण दिसम्बर, १९२१ में इस पण्डित-

पुरुष को १८ महीने की सादी क़ैद की सज़ा मिली पर जेल में स्वास्थ्य ठीक न रहने की कारण जल्दी ही छोड़ दिये गये।

जेल से आने के बाद इन्होंने देखा कि भारतीयों के मन में यह शङ्का हो रही है कि हम जिस "स्वराज्य" के लिये आन्दोलन कर रहे हैं, वह किस प्रकार का होगा, उसका क्या रूप होगा! इस विषय में उन्होंने कई लेख लिखे और देशबन्धु चित्तरञ्जन दास के साथ एक योजना तय्यार की जो आज ऐतिहासिक महत्व रखती है। डाक्टर साहब प्राचीन भारत के ऋषि-मुनियों द्वारा वर्णित ऐसी शासन प्रणाली स्थापित करना चाहते हैं जिसमें पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता हो, कोई भेद-भाव न हो, सब को उन्नति करने का समान अवसर मिले पर अधकचरे लोग व्यवस्था और शासन का काम न करें। वयस्क, अनुभवी, बुज़ुर्ग ही शासन का काम चलावें।

वह केवल लेखक, अध्यापक, विद्वान्, प्रोफेसर या वक्ता ही नहीं हैं, पर कुशल शासक भी हैं। सन् १९२३ में वह काशी म्युनिसिपैलटी के अध्यक्ष चुने गये। इस पद से उन्होंने नगर की बड़ी सेवा की, म्युनिसिपैलटी के अधिकारों की बड़ी हिफ़ाज़त की और आज भी लोग उनकी तीन वर्ष की चेयरमैनी को नहीं भूलते। काशी वालों का विश्वास है कि उनके ऐसे योग्य चेयरमैन शायद ही अब फिर मिलें।

सन् १९२६ में डाक्टर साहब ने सार्वजनिक जीवन से अवकाश ले लिया और काशी से २५ मील दूर, "विश्राम" नामक रमणीक आश्रम में "वाण-प्रस्थ" जीवन व्यतीत करने लगे। पर ऐसे महापुरुष तो संसार को छोड़ना चाहते हैं, संसार उनको नहीं छोड़ना चाहता। उनके "विश्राम" की शान्ति को भङ्ग करने के लिये अपना दुःख और संकट

लेकर लोग वहाँ तक पहुँच जाते थे और उनके उपदेशों से लाभ उठाते थे।

"हिन्दी-उर्दू साहित्य" के प्रचार के लिये स्थापित हिन्दुस्तानी एकेडमी (इलाहाबाद) नामक सरकारी संस्था के आग्रह पर उन्होंने "भारतीय दर्शन" पर बड़ा गवेषणा पूर्ण व्याख्यान दिया जो प्रकाशित भी हो चुका है। उसी वर्ष काशी में, "अखिल एशियाई सम्मेलन" हुआ जिसका उद्देश्य एशिया के सभी देशों में भ्रातृत्व स्थापित करना था। इस अधिवेशन में डाक्टर साहब ने "एशिया के सभी विचारों में ऐक्य" पर अनोखा भाषण दिया था और बाद में उसी भाषण को बढ़ा कर "सब धर्म-मज़हबों की एकता" नामक विश्व-विख्यात ग्रन्थ लिख डाला। सन १९३१ में कानपुर में भयंकर हिन्दू-मुसलिम दंगा हुआ। कांग्रेस की आज्ञा से इन्होंने उस दंगे के कारणों की जाँच कर बड़ी उपयोगी रिपोर्ट तय्यार की।

कांग्रेस के अनुरोध और आग्रह पर सन् १९३४ में वह केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा के सदस्य बने और चार वर्ष तक बड़ी योग्यता के साथ देश-हित के क़ानून बनाने का प्रयत्न करने के उपरान्त, सन १९३८ में इस्तीफ़ा दे दिया।

अस्तु, डाक्टर साहब के जीवन का संक्षिप्त परिचय ही दिया जा रहा है। उनके जीवन की इतनी महत्ता है, उन्होंने इतना काम किया है कि उनके जीवन की घटनाओं को देने के लिये ही एक पुस्तक लिखनी पड़ेगी। उनकी लिखी तीन दर्जन से अधिक पुस्तकों में केवल दो ही लिखना मनुष्य-जीवन को सफल बनाने के लिये पर्य्याप्त होता। अंग्रेज़ी में "साइन्स आव् इमोशन्स" (भाव-विज्ञान) तथा हिन्दी में लिखित "समन्वय" अमर ग्रन्थ हैं।

डाक्टर साहब नियमित आहार-विहार, नियमित व्यायाम तथा निश्चित समय पर निश्चित काम करने के आदी हैं। अपने खाने-पीने में, रोज़ की दिनचर्य्या में, वस्त्र की सफ़ाई, तन-मन की सफ़ाई तथा सत्संग का बड़ा ध्यान रखते हैं। स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र है। मेज़ पर किताबों की ढेर लगी रहती है। कागज़ों और फ़ाइलों के पुलिन्दे पड़े रहते हैं पर इस उम्र में भी, कोई काम अधूरा नहीं छोड़ते।

नित्य प्रातः उठ कर दो-तीन मील पैदल चलना, कसरत करना, भूख से कम खाना, भगवान का स्मरण करना तथा कुछ न कुछ रोज़ ज़रूर पढ़ना लिखना, यही उनका व्यसन है। बोलते कम हैं और जब उपदेश देते हैं तो विद्या का भण्डार खुल जाता है। स्वभाव के बड़े मधुर, बड़े सरल और कोमल-हृदय पुरुष हैं। गरीब छात्रों पर बड़ी दया रखते हैं काफ़ी सहायता करते हैं। सन् १८८५ में विवाह हुआ था। आज भी उनकी धर्मपत्नी श्रीमती चमेली देवी कर्त्तव्य-पालन में उनकी सहायता करती हैं।

इस समय उन की अवस्था ७१ वर्ष की है-- किन्तु चेहरे पर नित्य-प्रति तेज और साधना का सौन्दर्य बढ़ता ही जा रहा है। भगवान उन्हें अत्यधिक दीर्घायु करे ताकि वह समाज की और भी अधिक सेवा कर सकें।

महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा

डा० गंगानाथ झा से प्रथम परिचय में यह कोई नहीं पहचान पाता कि इस सीधे-सादे अनोखे व्यक्ति के मस्तिष्क में कितनी अधिक विद्या भरी पड़ी होगी। स्वभाव से, वेष-भूषा से, बोल-चाल से वह अत्यन्त ही सरल, भोले और साधारण गृहस्थ मालूम पड़ते हैं। यह तो अवश्य ज्ञात होता है कि वह बड़े धार्मिक व्यक्ति हैं, भगवान के बड़े भक्त हैं—पर जब तक कुछ देर बात न कर ली जावे, यह पता ही नहीं चलता कि वह कितने गहरे पण्डित हैं।

इसका प्रधान कारण यह है कि वह जैसा आदमी देखते हैं उसके साथ उस व्यक्ति के मन के अनुकूल ही बात करते हैं। उन्होंने कभी भी जान बूझ कर अपना पाण्डित्य दिखलाने का या दूसरों को प्रभावित करने का अनायास प्रयास नहीं किया। ऐसी चेष्टा तो वही लोग करते हैं जो कम पढ़े-लिखे होते हैं। यह सच कहा है कि 'थोथा चना बाजे घना'। जो असली पण्डित होता है उसकी विद्या प्रचार के लिये नहीं, उपयोग के लिये होती है।

डाक्टर साहब में एक और विशेषता है। वह सदैव से सादी चाल-ढाल पसन्द करने वाले व्यक्ति रहे हैं। बनावट और सजावट उन्हें आती ही नहीं। किसी प्रकार के भेद-भाव से वह कोसों दूर हैं। स्वभाव से बड़े दयालु होने के कारण उन्होंने अपनी कमाई का अधिकांश भाग दान में व्यय किया था—और वह दान भी गुप्त होता था। इन्हें गरीब विद्यार्थियों की मदद कर उन्हें शिक्षा दिलाने में बड़ा सुख मिलता था। इसी का यह फल है कि आज

तकड़ों विद्यार्थी डाक्टर साहब की सहायता से
र जिनको उनके साथ-सहवास का अवसर
र बड़ा पण्डित हो गया।

महामहोपाध्याय डा० गङ्गानाथ झा

झगड़े या ऐसे कार्यों में जिसमें किसी का
ाक्टर साहब कभी न पड़े। हमेशा इनसे दूर
सका गलत अर्थ लगाया है। कुछ यह समझने

–६

कि वह देश के दुःख-दर्द से सरोकार नहीं रखते। पर बात ऐसी नहीं है। डाक्टर साहब का यह उपदेश है कि जो जिस क्षेत्र में अधिक से अधिक काम कर सके, करे। उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र को ही अपने लिये प्रधान कार्य-क्षेत्र बना रखा था। अतः वह अपनी शक्तियों को इधर उधर बिखेरना नहीं चाहते थे।

डाक्टर साहब के पिता पं० तीर्थनाथ झा दरभङ्गा में रहते थे। तीर्थनाथ झा का विवाह महाराजा दरभङ्गा की लड़की महाराज कुमारी रामकाशी देवी से हुआ था। अतएव, काफ़ी अच्छे वातावरण में इनका बाल्य-काल बिहार में ही बीता। २५ सितम्बर, १८७२ को उनका जन्म हुआ था। १८८६ में ही राज दरभङ्गा के राज स्कूल से इण्ट्रेंस परीक्षा पास कर वह संयुक्त प्रान्त में चले आये और बनारस के क्वींस कालेज में भर्त्ती हो गये। १८९० में बी. ए. पास कर लिया। १८८८ में एफ़. ए. की परीक्षा में डा० सतीश चन्द्र बैनर्जी ऐसे प्रतिभाशाली विद्यार्थी को भी परास्त कर, प्रान्त में सर्व प्रथम पास हुए थे। १८९२ में एम. ए. पास कर लिया। जिन दिनों वह पढ़ते थे, हमारे प्रान्त का नाम "उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश" था।

बीस वर्ष की उम्र में एम. ए. पास कर लेने से ही डा० गंगानाथ झा को सन्तोष नहीं हुआ। वह चाहते तो तुरत नौकरी मिल सकती थी। पर, इनको तो विद्या का व्यसन था और अधिक से अधिक पढ़ने की धुन सवार थी। एम. ए. की पढ़ाई के बाद वह दो वर्ष तक काशी में और रहे। वहाँ के धुरन्धर विद्वानों से संस्कृत पढ़ते रहे।

सन् १९०८ में वह दरभङ्गा के सरकारी पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त हुए और दो वर्ष तक इस पद पर काम करते रहे। इससे उनको गहरा अध्ययन करने का और भी सुयोग प्राप्त हुआ। इन

की बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता से प्रभावित हो कर हमारे प्रान्त के शिक्षा विभाग ने इन्हें म्योर सेण्ट्रल कालेज, इलाहाबाद में संस्कृत का अध्यापक नियुक्त किया। गंगानाथ झा १६ वर्ष तक इस पद को सुशोभित करते रहे और इसी बीच में उन्होंने संस्कृत में अमूल्य पुस्तकें लिखीं।

सन् १९१८ में उन्हें बड़ा गौरवमय पद प्राप्त हुआ। भारत में संस्कृत विद्या का सबसे बड़ा विद्यालय तथा सबसे प्रतिष्ठित सरकारी संस्कृत कालेज बनारस का क्वींस कालेज था। इसके संस्कृत विभाग को बनारस संस्कृत कालेज कहते हैं। सन् १९१८ तक इस में विदेशी विद्वान् ही आचार्य्य अथवा प्रिंसिपल होते थे। इन प्रिंसिपलों में बैलेंटाइन, ग्रिफ़िथ, गफ़, थिबौ और वेनिस ऐसे विद्वान् प्रसिद्ध हैं। इसी विद्वत्–परम्परा में, गंगानाथ झा का भी नाम सम्मिलित हुआ। बनारस संस्कृत कालेज के वह प्रथम भारतीय प्रिंसिपल थे। सन् १९२३ तक बड़ी योग्यता के साथ कार्य करने के बाद शिक्षा-संसार ने उन्हें और भी ऊँचे पद पर बिठा दिया।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय हमारे प्रान्त का सर्व-श्रेष्ठ विश्व विद्यालय है। इसके वाइस-चांसलर का पद बहुत ही आदर और सम्मान का पद है और शिक्षा की दुनियाँ में बहुत आगे बढ़े हुए व्यक्ति को ही मिलता है। सन् १९२३ में गंगानाथ झा इस पद के लिये चुने गये और लगातार ९ वर्ष तक विश्वविद्यालय की सेवा करने के बाद, उससे अवकाश लेकर काशी में शुद्ध वाणप्रस्थ आश्रम का जीवन व्यतीत करने लगे। उन्होंने प्रान्त के शिक्षा के क्षेत्र में ३० वर्ष तक घोर परिश्रम से कार्य किया और बुढ़ापे में केवल भगवद्भजन के लिये एकान्त वास करने लगे।

गंगानाथ झा को अपने पुत्र अमरनाथ झा की सफलता और यश-वृद्धि पर अवश्य सन्तोष होगा। अमरनाथ झा संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेज़ी भाषा के प्रकाण्ड पण्डित हैं और आजकल वह उसी महान् पद को सुशोभित कर रहे हैं जिसे उनके पिता ने पवित्र किया था। आजकल अमरनाथ झा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर हैं।

अस्तु, गंगानाथ झा की विद्वत्ता का सरकार ने तथा जनता ने पर्य्याप्त आदर किया है। सन् १९१० में सरकार की ओर से इन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि मिली थी। उसी वर्ष इलाहाबाद विश्वविद्यालय से उन्होंने "डाक्टर आव् लिटरेचर" (साहित्य महारथी) की उपाधि प्राप्त की। सन् १९२६ में "डाक्टर आव् लाज़"—(क़ानून-महारथी) की उपाधि मिली और सन् १९३७ में काशी विश्वविद्यालय ने भी उन्हें "डाक्टर" की उपाधि दी। इस प्रकार उन्हें "डाक्टर" की उपाधि तीन बार प्राप्त हुई—यह बड़े गर्व तथा गौरव की बात है।

इसके अतिरिक्त, वह विश्व-विद्वानों की सभा रायल एशियाटिक सोसाइटी आव् लन्दन के सम्मानित सदस्य थे। इस संस्था की बम्बई शाखा ने इनकी प्रगाढ़ विद्वत्ता के आदर में पदक प्रदान किया था।

पटना विश्वविद्यालय में अध्यापक, बड़ोदा कालेज की जयन्ती के उपलक्ष में होने वाले विशेष व्याख्यानों के व्याख्याता तथा भारतीय दार्शनिक सम्मेलन के अध्यक्ष का गौरवमय पद भी वह सुशोभित कर चुके हैं।

इतने से ही इनकी यश-गाथा समाप्त नहीं होती। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की प्रबन्ध-समिति के वह १४ वर्ष अर्थात् सन् १९०९ से १९२२ तक मेम्बर रहे। साहित्य-कला (आर्ट) आदि विषयों के अध्यापकों का

प्रधान पद भी इन्हें प्राप्त हुआ था और इलाहाबाद विश्वविद्यालय के इस पद पर नियुक्त होने वाले वह पहले भारतीय थे इसी प्रकार काशी विश्वविद्यालय की "पूर्वीय विद्या-विभाग" के अध्यक्ष भी डाक्टर साहब रह चुके हैं।

कई काम एक साथ करने की प्रतिभा होने के कारण वह अपनी विद्या की प्रसादि अनेक विश्वविद्यालयों को दे सकते थे। इनकी यह महत्ता साधारण नहीं थी।

इन्होंने अनेक सुन्दर ग्रन्थ रचे हैं। संस्कृत में सात मौलिक ग्रन्थ लिखे हैं। हिन्दी में "वैशेषिक दर्पण," "कवि रहस्य," "न्याय प्रकाश" ऐसी अमूल्य पुस्तकें लिखी हैं। हिन्दू क़ानून पर भी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ अंग्रेज़ी भाषा में लिखा है। इसके अतिरिक्त, अंग्रेज़ी में सात मौलिक ग्रन्थ लिखे, १६ अनुवाद किये तथा १३ संस्कृत पुस्तकों का-प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन कर प्रकाशित कराया।

इसीसे पाठक समझ सकते हैं कि उनका जीवन कितना उपयोगी और परिश्रममय रहा है।

इस महापुरुष ने केवल शिक्षा-जगत में ही अपनी प्रतिभा नहीं दिखलाया। बड़े लाट महोदय की राज परिषद् अथवा कौंसिल आव् स्टेट के वह तीन वर्ष तक मेम्बर थे—सन् १६२० से सन् १६२३ तक और इस तीन वर्ष की मेम्बरी में उन्होंने भारतीय जनता के हित वाले सभी मसलों पर जनता का साथ दिया और शासन-सुधार के लिये सरकार से सदैव आग्रह किया।

डा० गंगानाथ झा का जीवन सफल है। उनका अनुकरण कर हम सच्चे और सचमुच के आदमी बन सकते हैं। सच कहा है कि :- "महाजनो येन गतः स पन्था।"

अर्थात् :—महापुरुष जिस मार्ग से चलें, वही हमारे लिये सन्मार्ग है।

श्री प्रेमचन्द

उपन्यास-साहित्य भी हरएक भाषा और देश के लिये उतना ही ज़रूरी होता है जितना मनुष्य के लिये भोजन। हरएक आदमी गम्भीर विषयों का अध्ययन नहीं कर सकता। उसे दिमाग़ को न थकाने वाली हल्की चीज़ों को पढ़ने की ज़रूरत होती है जिससे वह चित्त को आनन्दित कर सके। गहरा विषय पढ़नेवाले को भी मन में ताज़गी लाने के लिये उपन्यास पढ़ने की ज़रूरत होती है।

कथा-कहानी और उपन्यास द्वारा समाज की दशा का बिलकुल सही और दुरुस्त चित्रण हो सकता है। देश की हरएक कमज़ोरी और ज़रूरत का ख़ाक़ा इनमें खिंच जाता है। गन्दी कहानी या उपन्यास पढ़ने से मन में विकार और गन्दगी पैदा होती है। अच्छी कहानी या उपन्यास पढ़ने से ज्ञान बढ़ता है और अपनी कमज़ोरियाँ मालूम हो जाती हैं। इसके साथ ही यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि अच्छा और उपयोगी उपन्यास लिखना बड़ा कठिन काम है। चलती-फिरती दुनियाँ के भावों की तस्वीर खींच लेना आसान नहीं है। इसीलिये पाश्चात्य देशों में उपन्यास तथा कहानी लेखकों का बड़ा आदर और सम्मान होता है। सर वाल्टर स्कॉट, चार्ल्स डिकेन्स, अलेक्ज़ेण्डर ड्यूमा, विक्टर ह्यूगो, एमिल ज़ोला, मेरी करोली ऐसे कहानी लेखकों और उपन्यास रचयिताओं की यूरोप में ही नहीं, संसार में देवताओं की तरह पूजा होती है। इन्हींकी जोड़ का या किन्हीं अंशों में इनसे भी महान उपन्यास तथा कहानी लेखक हमारे देश में—हमारे प्रान्त में उत्पन्न हुआ था जिसका असली

त राय था पर जिसने अपनी सब रचनायें "प्रेमच
श्री हैं। इसीलिये संसार में वह प्रेमचन्द के नाम
उनके उपन्यासों और कहानियों का अनुवाद
में ही नहीं, फ्रेञ्च, जर्मन, जापानी, नारवेजियन
ाओं में भी हुए हैं। रवीन्द्र नाथ ठाकुर को छोड़

श्री प्रेमचन्द

ारतीय लेखक की रचनाओं का इतनी विदेशी भाष
किया जितना कि प्रेमचन्द की।

केवल हिन्दी की ही चीज़ नहीं है। यों तो
बोली जाने वाली सभी भाषाओं—तेलगू, ता
ाती, बंगाली आदि में उनकी पुस्तकों का अनु

मरा पड़ा है पर वास्तव में उन्होंने पहले उर्दू में ही लिखना प्रारम्भ किया था। बाद में, अपनी प्रतिभा की प्रसादि अपनी मातृ भाषा हिन्दी को देने के लिए उन्होंने हिन्दी में भी लिखना शुरू किया। इस प्रकार वह हिन्दी-उर्दू दोनों ही भाषाओं के सब से बड़े, सब से प्रसिद्ध और आदरणीय उपन्यास तथा कहानी लेखक हो गये। उनकी भाषा में, उनकी क़लम में और उनकी रचना में जो सादगी, सुलझापन और सफ़ाई है, वैसी हिन्दी के अन्य किसी लेखक में आज तक नहीं पायी जाती। इसीलिये उनकी रचनाओं की जितनी पूछ होती है, उतनी और किसी लेखक की नहीं। "प्रसाद" भी बहुत ऊँचे दर्जे की कहानी और उपन्यास लिखते थे पर उनकी भाषा संस्कृतमय होती थी—कठिन होती थी। पर प्रेमचन्द तो ऐसी आम बोलचाल की भाषा रच गये कि उसे बच्चे से लेकर बूढ़े तक बड़े मज़े में समझ सकते थे और हैं। "प्रसाद" महाकवि थे—'प्रेमचन्द' महा उपन्यासकार।

६० वर्ष की उम्र पार करते न करते श्री प्रेमचन्द का देहान्त हो गया। २५ जून, १९३६ को वह इस संसार से चल बसे। उनकी मृत्यु से इस देश को ऐसी हानि हुई जो कभी न पूरी होगी। सेठ जमनालाल बजाज ऐसे देशभक्त ने उनकी मृत्यु पर लिखा था :-

"औपन्यासिक सम्राट् श्री प्रेमचन्द के बारे में तो जितना लिखा जाय थोड़ा ही होगा। हिन्दुस्तानी लिखने वालों में वह बेजोड़ थे। राष्ट्र-भाषा-प्रचार के लिये उनकी आत्मा तड़पती थी। आज, जब कि राष्ट्र-भाषा का भविष्य इतना उज्ज्वल नज़र आता है, श्री प्रेमचन्द की कमी और भी तीव्रता से महसूस होती है। साहित्य सेवा द्वारा उन्होंने भारत की राष्ट्रीयता को सींचा, उसकी

संस्कृति को रौशन किया ग्रामवासियों के प्रति उनकी आत्मीयता दर्जे कमाल की थी उनकी याद आती है तो अब भी हृदय भर आता है। हमने एक महान साहित्यकार को अपने बीच से खो दिया, परन्तु वह तो अमर हो गये। आज प्रेमचन्द जी की वजह से साहित्य संसार में हमारा सर ऊँचा है और रहेगा।"

दक्षिण भारत के प्रसिद्ध लेखक श्री ए. चन्द्रहासन एम. ए. ने तो साफ़ लिखा था कि--"हम लोगों की नज़र में प्रेमचन्द हिन्दी-साहित्य का गौरव बढ़ाने वाले उपन्यास-सम्राट् नहीं, हिन्दी गद्य की प्रगति में युग-प्रवर्त्तन करने वाले साहित्य-महारथी नहीं, छोटी-छोटी कहानियों द्वारा जीवन के सब क्षेत्रों में क्रीड़ा करने वाले पात्रों का प्रदर्शन तथा हृदय के भिन्न-भिन्न भावों का दार्शनिक विश्लेषण करने वाले कलाकार नहीं, पर हिन्दुस्तान को एक सूत्र मे बाँधने वाली राष्ट्र-भाषा के आदर्श और ज़ोरदार लेखक हैं।"

उनके एक मुसलिम दोस्त की भी राय जान लीजिये। मौलवी अशफ़ाक़ हुसैन साहब के शब्दों में--"प्रेमचन्द जी के न रह जाने की वजह से सारे हिन्दोस्तान का बहुत बड़ा नुक़सान हुआ है। उनमें ऐसी खूबियाँ थीं जो बहुत ही कम आदमियों में होती हैं। साथ ही साथ उनमें वह सब गुण भी थे जो एक सच्चे कलाकार में उच्च कोटि का रचनात्मक कार्य करनें के लिये होते हैं।"

अस्तु, प्रेमचन्द जी समाज की दुर्दशा, गरीबी, बुराइयों और ग्रामीण जीवन की जीती-जागती तस्वीर खींच देते थे। यही उनकी क़लम का कमाल था। वह हिन्दी को हिन्दू और मुसलमान दोनों के काम लायक़ भाषा बनाना चाहते थे-- इसलिये "हिन्दुस्तानी" भाषा का आदर्श रूप उन्होंने उपस्थित किया। हिन्दू-मुसलिम एकता के

कट्टर हिमायती थे मुसलिम धर्म और सभ्यता को वह बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। वह ईश्वर की सत्ता मानते थे, पर मज़हब की बेड़ी में समाज को इस क़दर जकड़ने के खिलाफ़ थे कि वह साँस ही न ले सके।

उनके एक दोस्त मौलवी मुहम्मद आक़िल साहब से मज़हब के बारे में उनसे बातें होने लगीं। आक़िल साहब ने लिखा है कि वह :—

"हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत पर अफ़सोस कर रहे थे और इसकी जि़म्मेदारी मज़हब की ग़लत तस्वीर पर कर रहे थे। प्रेमचन्द ने मुझसे कहा कि मुझे रस्मी मज़हब पर कोई एतक़ाद नहीं है, पूजा-पाठ और मन्दिरों में जाने का भी मुझे शौक़ नहीं है। शुरू से मेरी तबीयत का यही रंग है। मैं मज़हबी तबीयत रखने वालों को बुरा नहीं कहता, लेकिन मेरी तबियत रस्मी मज़हब की पाबन्दी को बिलकुल गवारा नहीं करती।"

इस बारे में हमारी और उनकी काफ़ी बातचीत होती थी और वह हमें हमेशा समझाया करते थे कि सब से बड़ी भगवत् पूजा ग़रीब और बीमार की सेवा करना है, मन्दिर में बैठ कर जप करना नहीं। उन्होंने अपने जीवन का मंत्र ही पतितों-अभागों-कंगालों-किसानों की सेवा ही बना रखा था। उसका एक छोटासा मज़ेदार क़िस्सा सुनिये। जब उन्हों ने प्रेस खोला तो बनारस में रहने लगे। बनारस में ही प्रेस था। पर आदत के मुताबिक़ हमेशा बहुत साधारण कपड़ा पहना करते। जाड़े के दिनों में भी सूती कुर्त्ता ही रहता। इस पर, एक दिन उनकी धर्म-पत्नी शिवरानी देवी ने उन्हें चालीस रुपये दिये और कहा कि अपने लिये गर्म कपड़े बनवा लीजिये। दो-तीन दिन बाद उन्होंने पूछा कि कपड़े ले आये तो आप हँसकर बोले —

कैसे कपड   अरे भाई प्रस के मजदूर सर्दी मे ठिठुरे जाते हैं तो मै कसे गम कपड़ पहनता   मैं ने तो रुपये उनको ही दे दिये .'

यह थी उनकी उदारता और ऐसी बातों पर उनको ज़रा भी क्लेश न होता। क्लेश तो बहुत भोगा, रुपये-पैसे की तंगी से लेकर जीवन की समस्याओं के साथ हमेशा उलझना ही पड़ा पर, चेहरे पर कभी शिकन न आई। वह कहते थे कि "संघर्ष और समस्या से भरा जीवन ही असली जीवन है।"—और यह कहकर वह हँस देते। वह सदैव हँसा करते। बच्चे की तरह हँसा करते और वह हँसी नहीं—'क़हक़हा' होता। उन्हें ठग लेना, भुलावा देना और उनसे नाजायज़ फ़ायदा उठाना तो बड़ी मामूली बात थी। दुनियादारी तो उन्होंने सीखा ही नहीं था। उनकी योग्यता और श्रेणी के उपन्यास लेखक यूरोप में लाखों रुपये के आदमी होते हैं। प्रेमचन्द जी अपनी पुस्तकों के बेचने का और उनसे सौदा करने का न तो तरीक़ा जानते थे और न हिन्दी-उर्दू में इतनी किताबें ही बिकती हैं कि काफ़ी पैसा मिले। तीसरे, किताबों के प्रकाशक भी उनके साथ पूरा न्याय नहीं करते थे। अतएव वह सदैव फ़क़ीर बने रहे और जब इस संसार से गये, अपने दो लड़के, एक लड़की (इसको वह बड़ा प्यार करते थे और इसका विवाह मध्य प्रान्त के सागर नामक क़स्बे में एक धनी परिवार में हुआ है) और अपनी सुशीला पत्नी शिवरानी के लिये केवल अपना यश ही छोड़ गये। हाँ, एक वस्तु और थी, वह था "हँस"। मरने से कुछ ही वर्ष पहले उन्होंने "हँस" नामक सुन्दर मासिक पत्र निकाला था। यह अब भी निकल रहा है और हिन्दी के सर्वोच्च पत्रों में है। इसके सम्पादक उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीपत राय हैं। प्रेमचन्द की पत्नी शिवरानी देवी भी

हिन्दी मे वडी सुन्दर कहानियां लिखती है और महिला सम्मेलन की अध्यक्षा रह चुकी ह। उनकी भाषा भी बड़ी सुन्दर और मजी हुई होती है। महिलाओं में सामाजिक जागृति तथा शिक्षा-प्रचार के लिये उन्होंने काफ़ी काम किया है।

प्रेमचन्द ने २०० से ऊपर कहानियां और २० से अधिक ही उपन्यास लिखें हैं। उनके उपन्यासों में "सेवा सदन," "रंगभूमि," "कर्म भूमि" तथा "गोदान" आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। "गोदान" इनका अन्तिम उपन्यास था—जिसके बाद वह गो-लोक चले गये। यों तो भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र-काल के लेखक-मण्डल ने ही पहले-पहल हिन्दी में उपन्यास लिखने का काम किया—पर उस समय के अधिकांश उपन्यास अनुवाद मात्र थे—बंगला या अंग्रेज़ी उपन्यासों के अनुवाद थे। पहले मौलिक उपन्यास लेखक श्री देवकी नन्दन खत्री थे जिनका "चन्द्रकान्ता सन्तति" और "भूतनाथ" पढ़ने के लिये बहुत से लोगों ने हिन्दी पढ़ना सीखा। इनके बाद दूसरे मौलिक उपन्यास लेखक श्री किशोरी लाल गोस्वामी थे जिनको हिन्दी में वही स्थान प्राप्त है जो कि अंग्रेज़ी में रेनाल्ड को मिला है। इन्हींके समय में मौलिक जासूसी उपन्यासों की रचना श्री गोपाल राम गहमरी ने शुरू की। देवकीनन्दन काशी के, गहमरी जी गाज़ीपुर के और किशोरीलाल जी वृन्दावन के रहने वाले थे। किन्तु असली "उपन्यास-माला" श्री प्रेमचन्द जी के समय से ही शुरू होती है। इनके उपन्यासों में समाज की हरएक दशा का बड़ा अच्छा चित्रण है और भाषा के लिये तो यह कहा जाता है कि—'प्रेमचन्द जी भाषा के साथ अठखेलियाँ करते थे।'

हिन्दी में सब से पहली कहानी सन् १८०३ में लिखी गयी। वह थी सय्यद इंशा अल्ला ख़ाँ की 'रानी केतकी की कहानी।' इसके

बाद, श्री हरिश्चन्द्र के समवर्त्ती बा० काशीनाथ खत्री ने 'लैम्बज टेल्स फ्राम शेक्सपियर' का हिन्दी में अनुवाद किया हिन्दी मे पहली मौलिक कहानी सन् १६०४ में "सरस्वती" में छपी थी। इस के लेखक थे श्री किशोरीलाल गोस्वामी और कहानी का शीर्षक था— "इन्दुमती"! पर, सर्व साधारण की बोल-चाल की भाषा में, देहाती जीवन का सच्चा चित्र खींचने वाली कहानी का प्रारम्भ श्री प्रेमचन्द से ही हुआ। 'मन्दिर और मस्जिद,' 'शतरञ्ज के खिलाड़ी' तथा 'पञ्च परमेश्वर' इनकी ही लिखी सबसे बढ़िया कहानियों में से ही नहीं बल्कि संसार की श्रेष्ठ कहानियों में से समझी जाती हैं।

'पञ्च परमेश्वर' देहात के जीवन पर लिखी गयी कहानी है। देहात का वह कितना सुन्दर चित्रण कर सकते थे, इसकी एक छोटी सी मिसाल पढ़िये- 'फागुन अपनी झोली में नव-जीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर की सुगन्ध बाँट रहे थे। कोयल आम की डालियों में छिपी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी।'

थोड़े-से शब्दों में कैसा आकर्षक चित्र खींचा है। ऐसा ही आकर्षक चित्र उनकी लेखनी सदैव खींचती थी। श्रीप्रकाश का कहना है कि—'श्री प्रेमचन्द ने राजाओं और ग़रीबों की व्यथाओं को छोड़ कर साधारण नर-नारियों की व्यथायें लिखी हैं। महलों में न घूम कर झोपड़ियों में घूमे हैं। साधारण लोगों के प्रतिदिन के जीवन के, भोजन और विवाह सम्बन्धी अभिलाषाओं की चर्चा की है और निम्न श्रेणी के लोगों के जीवन को समझने का संसार को मौक़ा दिया है। हमारे साहित्य को और हमारे समाज को उनकी यह देन बहुमूल्य है और इसके लिये उनके प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिये।'

अस्तु, इस महापुरुष का जन्म आज के चौंसठ वर्ष पूर्व, बनारस जिले के पांडेपुर नामक क़स्बे में, मढ़वा नामक ग्राम में हुआ था। बहुत ही साधारण श्रेणी तथा परिस्थिति में। इनके पिता के पास केवल कुछ थोड़ी-सी काश्तकारी थी जिससे जीविका कठिनता से चलती थी। इसलिये उन्होंने डाकख़ाने में नौकरी कर ली। तरक्की करते-करते वह किसी डाकख़ाने में छोटे मुन्शी हो गये थे। प्रेमचन्द जी की शुरू की पढ़ाई बनारस में ही हुई और वह भी बड़ी कठिनाइयों का सामना करते हुए। जब इनके पिता जी की बदली गोरखपुर हो गयी तो वह भी गोरखपुर के स्कूल में पढ़ने लगे।

उनके विद्यार्थी जीवन की एक रोचक घटना यहाँ बतला दी जाती है। गोरखपुर स्कूल में इनकी दोस्ती एक तम्बाकू बेचने वाले के बेटे से हो गयी थी। वह उनका सहपाठी था। रोज़ वह उसके घर पर जाते थे। कहीं से इनको 'तिलिस्म होश्रुबा' नामक कहानी की किताब मिल गयी। इस किताब के बारे में इतना ही कहना काफ़ी होगा कि इतनी बड़ी कहानी की किताब शायद दुनियाँ में कहीं नहीं है। बस, प्रेमचन्द (धनपत राय) अपने दोस्तों के साथ, तम्बाकू के बड़े बड़े पिण्डों के पीछे बैठ कर रोज़ इस किताब को बड़े चाव से पढ़ते। भावी उपन्यास-सम्राट् का कहानी-प्रेम इसी समय से जागृत समझना चाहिये।

लेकिन, इनको पिता का सुख भी अधिक दिन तक न मिला। १६ वर्ष की उम्र में ही पिता का देहान्त हो गया। माँ का सुख तो बहुत पहिले से ही छिन गया था। सौतेली माता से और बड़े भाई से अधिक पटरी न बैठती थी—यद्यपि प्रेमचन्द ने दोनों के प्रति सदैव बड़े आदर का भाव रखा और आज वे दोनों जीवित हैं और

उनके चले जाने पर आँसू बहाते हैं। श्री प्रेमचन्द ने अपने परिवार के हरएक व्यक्ति की सदैव सहायता की। दूर दराज़ के रिश्तेदारों की भी वह फ़िक्र रखते थे।

पिता जी के मरते ही इन पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। पढ़ना कठिन हो गया। क्या करते—पर वह निराश नहीं हुए। निराश तो वह कभी जीवन भर नहीं हुए। सदैव हँस कर संकट झेलते रहे। अपनी पढ़ाई जारी रखी और उसके लिये रोज़ तीन मील पैदल जा कर ट्यूशन भी करने लगे—उसीकी आमदनी से अपना और अपनी शिक्षा—दोनों का निर्वाह करते थे। इस ट्यूशन से उनको कुल छः रुपये माहवारी मिलते थे। किसी तरह संकट झेल कर हाई स्कूल की परीक्षा पास की।

सौभाग्य से इनको सरकारी नौकरी मिल गयी। गोरखपुर में ही सब-डिप्टी इंस्पेक्टर आव् स्कूल हो गये। अब उन्होंने समूचे परिवार का बोझ अपने कन्धों पर ले लिया। इसी समय उन्होंने एक और अद्भुत साहस का काम किया। उस समय यह बड़ी भयंकर बात समझी जाती थी कि कोई कुलीन पुरुष किसी विधवा से विवाह करे। पर युवक प्रेमचन्द ने विधवा-विवाह किया और उनकी जीवन-संगिनी बहुत ही आदर्श, कोमल-हृदया तथा साध्वी महिला मिलीं। प्रेमचन्द का नवीन जीवन शिवरानी के त्याग, लगन और उनके ऐसे भोले-भाले साधु की सेवा के बिना अधूरा ही रह जाता है। उनके समस्यामय जीवन में शिवरानी से उपयुक्त दूसरा कौन साथी होता!

कुछ दिनों बाद वह गवर्न्मेंण्ट हाई स्कूल, गोरखपुर के सेकेण्ड मास्टर हो गये। यहीं से उन्होंने प्राइवेट तौर पर एफ़. ए. और

बी ए की परीक्षा पास की लेकिन परीक्षा का क्रम एक ओर था दूसरी ओर वह साहित्य की सेवा भी कर रह थे जिस समय वह सब-डिप्टी इन्सपेक्टर थे, उसी समय से उन्होंने कहानी लिखना प्रारम्भ किया। वह कहानियाँ उर्दू में लिखी गयीं और उर्दू रिसालों में छपी। उनका बड़ा आदर हुआ—पर उनके लिखने के कारण सरकार ने उनसे कैफ़ियत भी तलब की। पर, उन्होंने अपना लिखना बन्द नहीं किया। अपना धनपत राय नाम बदल कर 'प्रेमचन्द' कर दिया। जब इनका पहला कहानी-संग्रह उर्दू में और उसके कुछ दिनों बाद हिन्दी में निकला तो 'प्रेमचन्द' की धूम मच गयी। लोगों ने देखा कि कहानी-साहित्य में एक नया सितारा चमक उठा।

प्रेमचन्द अध्ययन के बहुत शौक़ीन नहीं थे पर हरएक विषय पर इनकी पूरी जानकारी थी। उपन्यास-साहित्य का इनका बड़ा गहरा अध्ययन था। किसी भी विषय पर उनसे बात करने में पूरा आनन्द आ सकता था। उनकी कहानियों का यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद होने लगा और उन्हें पढ़ कर दूर-दूर से प्रशंसा-पत्र आने लगे। उनकी उर्दू में छपी कहानियों का पञ्जाब में बहुत अधिक प्रचार हुआ और दिल्ली में रहने वाले एक पञ्जाबी ने तो, जब उसे प्रेमचन्द जी का दिल्ली में दर्शन हुआ था—यहाँ तक कहा कि "मैं जब जीवन से निराश हो गया तब इत्तफ़ाक़ से आपकी एक कहानी हाथ लगी—उसे पढ़ा और जीवन आशा से भर गया! मैं ने चेष्टा की और अब धनी आदमी बन गया हूँ।"

प्रेमचन्द जहाँ भी, जिस अवस्था में रहे, लिखने-पढ़ने का काम जारी रखते थे। हमने उनको बाज़ार में बिके हुए पुराने-

रद्दी कागजों की पुश्त पर, उसके सादे किनारे पर कहानी लिखते देखा है—और वे कागज़ के टुकड़े मोती पैदा कर रहे थे।

सन् १९१९ में, उन्होंने असहयोग आन्दोलन के शुरू होते ही, अपने अध्यापन कार्य से इस्तीफ़ा दे दिया। इसी समय उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'सेवा-सदन' प्रकाशित हुआ था। उसने हलचल मचा दी। सरकारी नौकरी छोड़ कर वह काशी चले आये। उन्हीं दिनों श्री शिवप्रसाद गुप्त ने काशी विद्यापीठ की स्थापना की थी। श्री प्रेमचन्द उसी में सादर बुला लिये गये और उसकी पाठशाला विभाग के प्रधानाध्यापक बना दिये गये। कुछ दिनों बाद वह प्रसिद्ध मासिक पत्रिका "माधुरी" के सम्पादक होकर लखनऊ चले गये और चार-पाँच वर्ष वहीं रहे। इसी ज़माने में उन्होंने अपना 'रंग-भूमि' शीर्षक वृहत् उपन्यास लिखा।

इसके बाद ही उन्होंने काशी में अपना प्रेस खोला। इसका नाम "सरस्वती प्रेस" है और अब हमारे प्रान्त के बहुत अच्छे प्रेसों में इसकी गणना होती है। श्री प्रेमचन्द प्रेस का काम चलाते और उपन्यास लिखते। पर, इन दोनों कामों को निजी तौर पर करने पर इनको बड़ा घाटा हुआ। उपन्यास की आमदनी प्रेस में समाप्त हो जाती थी। फिर भी, वह प्रेस को बन्द करने के लिये तय्यार न थे। उनका कहना था कि जो काम उठा लिया है, उससे भागना कायरता होगी। कुछ वर्ष तक प्रेस चलाने के बाद वह क़रीब दस महीने के लिये बम्बई चले गये थे। एक फ़िल्म कम्पनी ने बड़े आदर से इनको बुलाया था। यहाँ पर इनकी दो कहानियों की तस्वीरें बनीं--एक "सेवा सदन" उपन्यास के आधार पर और दूसरी 'मज़दूर'।

पर, फ़िल्म के वातावरण में उनको अपनी कला का अनादार तथा उसका विलासी-करण प्रतीत हुआ और वह दुःखी हो उठे। उन्होंने फ़िल्म कम्पनी छोड़ दी और बनारस वापस आ गये। प्रेस का स्थान भी बदल दिया और निश्चित रूप से उसी का काम, हंस पत्रिका का काम तथा उपन्यास-लेखन प्रारम्भ किया। 'गो-दान' उसी समय लिखा गया। लिखते वह रोज़ थे—आराम तो उन्होंने कभी न किया।

पर, जन्म ही से वह काफ़ी दुबले-पतले और कमज़ोर थे। समस्यामय जीवन स्वास्थ्य का कभी ध्यान न कर सका। अन्त में शरीर गिरने लगा। अप्रैल, १९३६ में वह बीमार पड़े जलोदर रोग ने ग्रस लिया था। २४ जून, १९३६ को उनका देहान्त हो गया।

इस महापुरुष की मृत्यु से भारत की कितनी हानि हुई, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। उनके 'विदा' होने पर एक लेखक ने नीचे लिखी उर्दू की पंक्तियों की बिलकुल ठीक याद दिलाया था :—

बहुत शौक़ से सुन रहा था ज़माना—
तुम्हीं सो गये दास्ताँ कहते-कहते !

श्री जयशङ्कर "प्रसाद"

ईसवी सन् १९३६-३७ का साल हिन्दी साहित्य के लिये बड़ा घातक वर्ष था। इस वर्ष हिन्दी के तीन धुरन्धर महारथी स्वर्ग सिधारे। उपन्यास-सम्राट् श्री प्रेमचन्द, विज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित और लेखक श्री रामदास गौड़ तथा नाटक एवं कविता के अद्वितीय रचयिता श्री जयशङ्कर "प्रसाद"! ऐसे रत्न भारतमाता और हिन्दी भाषा की गोद सूनी कर गये।

हमें वह दिन याद है जब श्री प्रेमचन्द का शरीर निर्जीव पड़ा था और हम शव को उठाने की तय्यारी कर रहे थे। उस समय श्री प्रेमचन्द की पत्नी अपने पति के प्राण-रहित शरीर से चिमट कर बहुत करुणापूर्ण स्वर में रुदन करने लगीं—

"नाथ, मुझे छोड़ कर कहाँ जा रहे हो। मेरे साथ इतना विश्वासघात क्यों करते हो!"

श्री जयशङ्कर प्रसाद भी वहीं खड़े थे। उन्होंने देवी को समझाने की चेष्टा की। देवी ने सब को रुलाने वाले स्वर में कहा:—

"प्रसाद जी, आप कवि हैं। क्या आपकी कविता ने आपमें इतनी भी भावुकता न दी कि मेरी मार्म्मिक पीड़ा को समझ सकें!"

प्रसाद जी का गला रुँध आया। उनको समझाने का भार हम पर छोड़ कर वह बाहर चले आये—उस समय हमने यह नहीं जाना था कि कुछ महीने बाद वह भी उसी रास्ते पर चलेंगे जिस मार्ग के यात्री प्रेमचन्द को पहुँचाने के लिये आये हैं—विदा देने आये हैं!

"प्रसाद" उनका उपनाम या तखल्लुस था। असली नाम श्री जयशङ्कर था। बीसवीं सदी प्रारम्भ होने के तेरह वर्ष पूर्व सन् १८८७ में उनका जन्म हुआ था। इनका वंश बनारस के बहुत पुराने और मशहूर खान्दानों में से है। इनके दादा बाबू शिवरत्न ने सुरती, ज़रदा, तम्बाकू, सुँघनी आदि के व्यापार से बहुत धन कमाया था। वैश्य-हलवाई जाति में इनके ऐसा बड़ा व्यापारी अभी तक नहीं हुआ। वह केवल धन कमाना ही नहीं जानते थे, उसका उपयोग भी करना जानते थे। अधिकांश सम्पत्ति दान में, ग़रीबों की सहायता में व्यय हो जाती, पर जितना ही दान होता उतनी ही अधिक आमदनी भी होती। इनका यश इतना बढ़ा कि बनारस वाले जब इनको देखते तो "महादेव" "महादेव" के नारे लगाते। काशी-नरेश को छोड़ कर यही दूसरे व्यक्ति थे जिनका इतना सम्मान होता। "महादेव" का नारा सबके लिये नहीं लगाया जाता।

अस्तु, इनका परिवार "सुंघनी साहु का घराना" नाम से मशहूर हो गया। जयशङ्कर के पिता देवी प्रसाद भी अपने पिता के समान यशस्वी, दानी और कुशल व्यापारी थे। किन्तु, वह दीर्घजीवी न हो सके और असमय में ही, कच्ची गृहस्थी छोड़ कर चल बसे। उनके दो लड़के थे — शम्भूरत्न और जयशङ्कर। पिता की मृत्यु के समय जयशङ्कर की अवस्था १२ वर्ष की ही थी। शम्भूरत्न बड़े उदार, दानी और शाहखर्च आदमी थे। उनके दान-द्रव्य के कारण परिवार पर काफ़ी क़र्ज़ हो गया। यदि वह अधिक दिन जीवित रहते तो सब कुछ ठीक से सम्हाल लेते पर पाँच वर्ष बाद ही उनकी मृत्यु हो गयी और गृहस्थी का सारा बोझ, १७ वर्ष की अवस्था में ही, जयशङ्कर पर आ पड़ा। स्वार्थी नातेदारों की लूट-खसोट और बँटवारे के पश्चात् इन्हें क़र्ज़ से लदा कारोबार सम्हालने का भार उठाना पड़ा।

र का बचपन बड़े आनन्द और राजसी ढंग से
वह अधिकांश अमीरों की सन्तानों की भाँति "
हीं बने। प्रारम्भ ही से कसरत करने और शरीर बन
ड़-सवारी का बड़ा शौक़ था। तन्दुरुस्ती का ख्याल
रते दम तक शरीर बड़ा गठा हुआ और रोबीला था।

श्री जयशङ्कर "प्रसाद"

खने का बड़ा शौक़ था। १२ वर्ष की उम्र तक
ालवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की, पर, जब भाई वे
भ्फ आया तो उन्होंने स्कूल की पढ़ाई छुड़ा दी
की व्यवस्था कर दी। दूकान पर भी बैठने की

दी। जयशङ्कर चाहते तो सिर्फ़ दूकान का काम देखते और मौज करते। पर, इन्होंने घर पर ही अंग्रेज़ी, उर्दू, फारसी तथा संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। संस्कृत से बड़ा प्रेम था — प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ, विशेष कर बौद्ध-कालीन ग्रन्थों का उनका अध्ययन बड़ा गहरा था। उनके इस अध्ययन की छाप उनकी पुस्तकों में मिलती है।

दूकान पर बैठने के समय भी वह कभी आलस्य न करते। पुरानी बहियों के पीछे कविता लिखा करते, इस पर उनके भाई नाराज़ भी होते कि दूकान के काम में हर्ज़ होता है। पर, भावी महाकवि की प्रतिभा का श्री गणेश हो चुका था। सच कहा हैं :—

"होनहार बिरवान के होत चीकने पात।"

अस्तु, पारिवारिक विपत्ति पड़ने पर भी वह धैर्य्य पूर्वक सब कुछ सहते रहे। न तो इनका अध्ययन तथा साहित्यिक व्यसन कम हुआ और न व्यापार के प्रति परिश्रम ही। यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि व्यापार और क़र्ज़ के बोझ और चिन्ताओं से लदा व्यक्ति इतना महान साहित्यकार कैसे हो सका। यह उनकी बुद्धि की विशालता है। दिन में लगन के साथ रोज़गार का काम देखते और रात्रि में, एकान्त में, अध्ययन करते और लिखते। कितनी ही रचनायें गंगाजी के किनारे, नौका पर घूमते हुए या बागों में बैठ कर लिखी गयीं। इनके गोवर्द्धनसराय वाले मकान पर तथा चौक में इनकी दूकान पर साहित्यिकों की टोली जमा रहती। एक पानवाले को सिर्फ़ इसलिये बिठाये रहते कि सब को पान खिलाता रहे। बड़े प्रेम से हरएक हिन्दी-प्रेमी का स्वागत करते और उसकी बातें सुनते। एक विशेषता यह भी थी कि 'प्रसाद' स्वयं कम बोलते और दूसरों की बातें बड़े चाव से सुनते थे।

व्यापार की ओर से जयशङ्कर कभी उदासीन नहीं हुए उन्होंने वर्षों परिश्रम कर के अपने व्यापार को काफी आगे बढ़ाया, गोवर्द्धन सराय के अपने विशाल भवन का जीर्णोद्धार कराया और सन् १९२९-३० तक परिवार का सब ऋण चुका दिया। इस प्रकार अपने पुत्र चिरञ्जीव रत्नशङ्कर के लिये वह एक ठोस व्यापार छोड़ गये।

सन् १९०७ से ही उनकी कवितायें उस समय के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। पहले वह बृज-भाषा में कविता करते थे पर उसे छोड़ कर शुद्ध हिन्दी में कविता करने लगे तथा "रहस्यवादी" 'दार्शनिक" "गूढ़" कविताओं की परिपाटी उन्होंने ही चलाया। १९११-१२ में उनकी प्रारम्भिक कविताओं का संग्रह भी प्रकाशित हो गया था। उनका सब से प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ "आँसू" है जिसकी रचना सन् १९२५ में हुई। अकेले यही ग्रन्थ उनको संसार के महाकवियों की कोटि में बैठाने के लिये पर्य्याप्त है पर इनके मरने से कुछ ही मास पहले "कामायिनी" नामक महाकाव्य ने तो इनको युगों के लिये अमर कर दिया। यह ग्रन्थ इनकी बीमारी के ज़माने में लिखा गया था और हर ढंग से निराला है। इनकी "आँसू" रचना ही अपने ढंग की कितनी निराली है :—

"जो घनीभूत पीड़ा थी,
मस्तक में स्मृति-सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बन कर,
वह आज बरसने आई॥"

"कामायिनी" में "प्रसाद" ने कितने अच्छे ढंग से लिखा है :—

"उस दूर क्षितिज में सृष्टि बनी,
स्मृतियों की सञ्चित छाया से।

इस मनको है विश्राम कहाँ
चञ्चल यह अपनी माया से ॥"

एक स्थान पर किस सुन्दरता के साथ संसार की तस्वीर खींची है :—

"सुख दुःख में उठता गिरता,
संसार तिरोहित होगा—
मुड़कर न कभी देखेगा,
किसका हित अनहित होगा ॥"

अस्तु, "प्रसाद" महाकवि थे। उनकी कविता दर्शन, वेदान्त और उपदेश से भरी हुई है। किसी आधुनिक कवि ने अपने जीवन-काल में शायद ही उतना लिखा हो जितना "प्रसाद" ने और किसी ने शायद ही अपनी नयी धारा में सबको बहा ले जाने में इतनी सफलता प्राप्त की हो जितनी "प्रसाद" ने।

"प्रसाद" बड़े अच्छे नाटक-कार भी थे और भारतेन्दु को छोड़कर इनके जोड़ का दूसरा नाटककार हिन्दी में अभी नहीं हुआ। इनके अधिकांश नाटक शुद्ध ऐतिहासिक और प्राचीन भारतीय सभ्यता को आधार बना कर लिखे गये हैं। इनके निम्न लिखित नाटक बहुत प्रसिद्ध हैं:—

चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, स्कन्द गुप्त, ध्रुव स्वामिनी, जनमेजयका नागयज्ञ, कामना इत्यादि।

इन नाटकों की भाषा, भाव, कविता सभी बहुत ऊँचे दर्ज़े की है। उन दिनों पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के गन्दे नाटकों ने हिन्दी की नाट्य-कला को भ्रष्ट कर रखा था। "प्रसाद" ने शेक्सपियर के टक्कर के नाटक लिख कर नाटक की दुनियाँ में युग-परिवर्त्तन कर दिया और हिन्दी को बंगला भाषा के समान सुन्दर नाटकों का खज़ाना बना दिया। यह अवश्य है कि प्रसाद के नाटक बड़े साहित्यिक और मार्मिक हैं। उन में अमूल्य उपदेश और

बडा सजीव चित्रण है पर, वह स्टेज पर खेलने योग्य नहीं है खेले जात है पर सब साधारण की वैसी रुचि उत्पन्न नहीं कर सकत जैसे कि शेक्सपियर के नाटक या कालिदास की शकुन्तला। जिस प्रकार प्रसिद्ध बंगाली नाटककार श्री डी. एल. राय के नाटक भी खेलने से अधिक पढ़ने की वस्तु हैं, वैसे ही "प्रसाद" के नाटक भी हैं।

"प्रसाद" के ही साथ के कारण काशी के श्री अम्बिका प्रसाद गुप्त ने "इन्दु" नामक मासिक पत्रिका निकालना शुरू किया। यह पत्रिका अपने ढंग की निराली थी। हिन्दी में अधिकांश मौलिक (बिना अनुवाद की) कहानी निकालने वाली यह पहली पत्रिका थी, यद्यपि कहानी-साहित्य का प्रारम्भ आचार्य श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी ने "सरस्वती" द्वारा किया था। "इन्दु" ने ही जी. पी. श्रीवास्तव ऐसे हास्य-रस के उच्च लेखक को जनता के सामने पेश किया था। वर्त्तमान हिन्दी साहित्य में अब "इन्दु" की कोटि का हास्य-रस नहीं पसन्द किया जाता और श्री अन्नपूर्णानन्द द्वारा प्रचलित शिष्ट हास्य-रस की कहानियों का ही अधिक मूल्य समझा जाता है। इसी 'इन्दु' को हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्य-सेवी तथा हिन्दी में "एडगर वैलेस, अकोनन डॉयल, राइडर हैगर्ड" तथा अन्य प्रसिद्ध अंग्रेजी जासूसी उपन्यास लेखकों के टक्कर के लेखक श्री गोपालराम गहमरी का भी सहयोग प्राप्त होता था। इस "इन्दु" पत्रिका मे "प्रसाद" नियमित रूप से लिखते रहे और सन् १९११ में, इसी पत्रिका में, उन्होंने हिन्दी में अपनी प्रथम मौलिक कहानी लिखा। कुछ समय बाद "प्रसाद" के लेख, कविता तथा कहानी की इतनी माँग हुई कि उन्हें अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं को निराश करना पड़ता था। "प्रसाद" अपनी क़लम का व्यवसाय नहीं करते थे।

लिखने का मिहनताना कभी नहीं लेते थे यदि वह चाहते तो इसके द्वारा काफ़ी रुपया कमा सकते थे पर उनका कहना था कि 'हिन्दी के प्रकाशक और अख़बार वाले काफ़ी ग़रीब हैं। मैं उनकी कम से कम इतनी सेवा तो करूँ कि जब भगवान ने मुझ को खाने के लिये दिया है तो सरस्वती का सौदा क्यों करूँ।" वह जो कुछ लिखते थे "स्वान्तः सुखाय"—यानी अपनी आत्मा के सुख के लिये। इसी लिये उनकी क़लम से बहुत अच्छी चीज़ें निकल जाती थीं।

प्रसाद की कहानियों में समाज का बड़ा अच्छा, बड़ा मार्मिक चित्रण भी होता था। उनके दो उपन्यास "तितली" और "कंकाल" अनोखे और अत्यन्त सुन्दर हैं। एक तीसरा उपन्यास भी लिख रहे थे पर उसको पूरा करने के पहले ही काल-चक्र ने उन्हें संसार से विदा कर दिया।

"प्रसाद" की प्रतिभा के विषय में लिखने के लिये बहुत अध्ययन और स्थान की आवश्यकता है। इस विषय में उनके अनन्य मित्र तथा शिष्य प्रसिद्ध कहानी-लेखक पं० विनोद शङ्कर व्यास ने "प्रसादजी की कला" नामक बड़ा ग्रन्थ रचा है। उसको पढ़ने से ही हरएक को "प्रसाद" की प्रतिभा का अच्छा ज्ञान हो सकता है।

वह स्वभाव के बड़े सीधे, बात-चीत में बड़े सरल और आदर्श गृहस्थ थे। अपने विज्ञापन या प्रचार से बहुत दूर रहते थे—डरते थे। नाम की तथा यश की उनको कभी भूख न थी, यहां तक कि अख़बार वालों को अपना चित्र तक छापने के लिये मना करते थे। सभाओं और कवि-सम्मेलनों में बहुत कम जाते और यदि जाते तो फिर सभी की कविता उनके सामने फीकी पड़ जाती। सफ़र करने का उन्हें कभी शौक़ न रहा। बनारस उन्हें बड़ा प्रिय था और उसे एक दिन के लिये छोड़ने में भी उनको कष्ट होता। इस बात में वह,

सफर से बहुत भागने वाले व्रज भाषा के आधुनिक महाकवि प० जगन्नाथ दास "रत्नाकर (स्वर्गीय) से भी बाज़ी मार ले गये थे

जिस जाति में वह उत्पन्न हुए थे, वह बहुत पिछड़ी और अशिक्षित जाति है। वैश्य-हलवाई समाज की अशिक्षा पर वह रो तक देते थे। उनके उदाहरण से उनकी जाति में शिक्षा का काफ़ी प्रचार हुआ।

वेश-भूषा बहुत सादी थी। गर्मी में बनारसी कुर्त्ता और धोती, सर पर खद्दर की दुपल्लिया टोपी और जाड़े में रूई की मिर्ज़ई जिस पर सिंघाड़े से कटे रहते थे पहना करते थे।

सन् १६३१ की दिसम्बर में उन्होंने कलकत्ता और पुरी आदि स्थानों की यात्रा की। इसके पश्चात् फिर कोई लम्बी यात्रा नहीं हुई। पुत्र के आग्रह पर सन् १६३६ के दिसम्बर में लखनऊ की नुमायश देखने गये और वहां से लौटने के बाद ही २२ जनवरी, सन् १६३७ को बीमार पड़े। फेफड़े की जाँच कराई गई तो मालूम हुआ कि तपेदिक़ की शिकायत है। इतने संयमी आदमी को तपेदिक़ कैसे हुआ, यह भगवान जाने। पर इस घातक रोग ने इन्हें समाप्त करके ही छोड़ा। ११ नवेम्बर १६३७ की संध्या को उनके प्राण-पखेरू उड़ गये और "प्रसाद" भगवान के यहां चला गया !!!

उनकी मृत्यु से हिन्दी संसार में शोक छा गया। उनकी मृत्यु के उपरान्त, उनकी स्मृति में, प्रान्त के साहित्य-सेवक श्री महेन्द्र ने अपने मासिक पत्र "साहित्य-सन्देश" का एक विशेषांक निकाला था। उस विशेषांक में, खड़ी बोली की कविता के आचार्य, प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ "भारत-भारती" तथा "साकेत" नामक महाकाव्य के रचयिता और हिन्दी में मनोहर, सार्वजनिक कविता-धारा का स्रोत बहाने वाले श्री मैथिलीशरण गुप्त का पत्र छपा था। गुप्त ने लिखा था :—

'जयशङ्कर के लिये मेरा शोक दुगना है मुझे उनके बन्धुत्व का सौभाग्य प्राप्त था . हिन्दी के नाते भी वह मेरे निकट कलाकार की अपेक्षा अधिक थे। उन्होंने कलात्मक रचनायें तो की ही। हमारी संस्कृति की भी अमूल्य सेवा की।"

अन्त में हम "प्रसाद" की कुछ सूक्तियां --उपदेश लिख कर यह बतलाना चाहते हैं कि वह कितने उच्च विचार के पुरुष थे। वह लिखते हैं :—

१. जीवन एक प्रश्न है, और मरण है उसका अटल उत्तर।
२. अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि है, यह भारत मानवता की जन्म-भूमि है।
३ मनुष्य साधारण-धर्मी पशु है, विचार-शक्ति होने से मनुष्य होता है और निःस्वार्थ प्रेम करने से वही देवता भी हो सकता है।
४. पाप का फल दुःख नहीं, किन्तु एक दूसरा पाप है।
५. वाक्-संयम विश्व-मैत्री की पहली सीढ़ी है।

अस्तु, अब "प्रसाद" संसार में नहीं हैं। पर उनकी कीर्त्ति अमर है। वह मनुष्य के रूप में कवि से भी बड़े थे। वह काशी के पुराने वैभव और संस्कृत के एक उच्चतम प्रतिनिधि थे। ज़रा भी लड़ाई-झगड़े से वह बहुत दूर भागते थे। साहित्यिक आन्दोलनों में उन्होंने कभी भी भाग नहीं लिया। वह कहते थे कि, "हमने लिख दिया, अब उसको संसार कैसे अपनाये, यह देखना हमारा काम नहीं है।" पत्र-व्यवहार भी वह बहुत कम करते थे। उनके जीवन का मंत्र था "शान्ति-पूर्वक, जितना कार्य हो सके करना और किसी से वैर-विरोध मोल न लेना।"

सर शाह मुहम्मद सुलेमान

हमारे प्रान्त ने गणित-शास्त्र के दो धुरन्धर विद्वान् उत्पन्न किये हैं। इनमें से एक अर्थात् स्व० डा० गणेश प्रसाद का जीवन-चरित्र हम पाठकों की सेवा में भेंट कर चुके हैं। अब हम एक दूसरे धुरन्धर विद्वान, गणित-शास्त्र के पण्डित, शिक्षा-प्रेमी तथा साथ ही क़ानून के भी उत्कट विद्वान और विख्यात न्यायाधीश—सर शाह मुहम्मद सुलेमान की जीवनी पर प्रकाश डालेंगे।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि आधुनिक काल में, हमारे देश में सर शाह मुहम्मद सुलेमान जैसे विद्या-व्यसनी कम होंगे। उनको रात-दिन काम में व्यस्त रहना पड़ता है पर समय निकाल कर सरस्वती देवी की सेवा करते ही रहते हैं। सर शाह मुहम्मद सुलेमान का पेशा प्रारम्भ में वकालत रहा है, बाद में वह हाईकोर्ट के जज हुए और क्रमशः उसके चीफ़ जज हो गये और आजकल वह भारत की सब से बड़ी अदालत—फ़ेडरल कोर्ट के जज हैं। फिर भी, उन्होंने, इतना बड़ा कार्यभार सम्भालते हुए भी अपना विद्या-व्यसन कम नहीं किया। वह लगातार कई घण्टे तक एकान्त में अध्ययन करते हैं। उनको गणित-शास्त्र से बड़ा प्रेम है और इसके विषय में उन्होंने बहुत से नये-नये खोज किये हैं और यह निर्विवाद है कि आज भारत में "आकर्षण-शक्ति, प्रकाश तथा विद्युत्-शक्ति" का इनसे बड़ा विद्वान बिरला ही होगा।

सर शाह मुहम्मद के गणित सम्बन्धी लेख संसार में बड़े आदर के साथ पढ़े जाते हैं। इन्होंने अमर गणितज्ञ सर आइज़क न्यूटन तथा आइन्स्टीन के सिद्धान्तों में भी संशोधन कर डाला और सूर्य्य-

ग्रहण के विषय में ऐसी मार्के की बात ढूंढ निकाली कि सन १६३६ में उन्हें पढ़कर ससार चकित हो गया।

यहां पर हम उनकी गणित-विद्या की बारीकियों का विस्तार या संक्षेप से भी वर्णन नहीं करना चाहते। यह काफ़ी लम्बा और गूढ़ विषय है और उसकी छानबीन में समय लगेगा। उसे हरएक को समझाना भी कठिन है। इसलिये हम इतना ही बतला देना चाहते है कि क़ानून के पण्डित और क़ानूनी पेशा होते हुए भी सर शाह मुहम्मद सुलेमान ने गणित-शास्त्र में जो गहरी डुबकी लगाई है, वह भारत के लिये गर्व की बात है - ऐसे विद्वान कम पैदा होते हैं।

विद्या से उनको बड़ा प्रेम है। उनका परिवार ही बहुत समय से—सदियों से--बड़ा विद्वान् परिवार समझा जाता है। सदियों से इस खान्दान में बड़े आला दिमाग़ के लोग पैदा होते आ रहे है। इसलिये, अपनी नसों में उसी युग-पालित प्रतिभा को लेकर बालक शाह मुहम्मद का जन्म सन १८८६ में हुआ। इनके पिता शेख मुहम्मद उस्मान जौनपुर के अच्छे वकीलों में थे। उन्होंने अपने बच्चे की शिक्षा का पूरा ध्यान रखा। लड़का खुद बहुत तेज़ था और पाठ याद कर लेना और कठिन सवालों को आसानी से हल कर लेना उसके लिये आसान बात थी। बहुत थोड़ी ही उम्र मे उसने स्कूल की पढ़ाई समाप्त कर दी और कालेज में भर्ती हो गया। कालेज की पढ़ाई इलाहाबाद में हुई। शाह मुहम्मद विश्वविद्यालय के मुसलिम होस्टल में रहते थे। वहाँ, हरतरह के खेल-कूद से दूर रहकर इतना अधिक पढ़ने में निमग्न रहते कि कभी-कभी इनके साथी बहुत चिढ़ जाते थे और इन्हें बुरा-भला कह बैठते थे। पर इन्होंने अपना चित्त इस प्रकार एकाग्र कर लिया था कि किसी प्रकार का प्रलोभन भी

पुस्तकों से न तो हटा सकता था न डिगा सकर
परिणाम भी वही हुआ जो होना चाहिये था—सन्
5 बीस वर्ष की उम्रमें— उन्होंने बी.ए. की परीक्
श्रेणी में पास होनेवाले छात्रों में भी सर्व प्रथम हुए
के शिक्षा-विभाग ने ऐसे होनहार विद्यार्थी का
। परीक्षा में बहुत ही उच्च स्थान पाने के कार

सर शाह मुहम्मद सुलेमान

हुत से तग़मे मिल चुके थे। सरकार ने इनक
रने के लिये छात्र-वृत्ति देकर विलायत भेजा।
९०६ में ही शाह मुहम्मद कैम्ब्रिज के विद्यालय

हो गये और सन् १६ ६ मे वहा से गणितशास्त्र की सर्वोच्च परीक्षा पास की और १६१० मे कानून की परीक्षा भी पास कर ली उन दिनो आइ.सी.एस. की परीक्षा पास करना बहुत कठिन था - शाह मुहम्मद उसमें भी शरीक़ हुए पर जी न लगने के कारण पास न हो सके। यह अच्छा ही हुआ। आइ.सी.एस. पास कर वह एक सरकारी कर्मचारी ही रह जाते और जनता का तथा समाज का उतना कल्याण नहीं कर सकते थे जितना उन्होंने वकालत का पेशा अपनाने के पश्चात्, स्वतन्त्र जीवन में किया। अस्तु, सन् १६१० में डबलिन के विश्वविद्यालय से 'क़ानून के डाक्टर" की उपाधि प्राप्त कर शाह मुहम्मद भारत चले आये और जौनपुर में, अपने पिता के साथ ही रहकर वकालत का काम सीखने लगे और उसका पेशा अपना लिया। सन १६११ में प्रसिद्ध दिल्ली दरबार हुआ था—इसी वर्ष शाह मुहम्मद भारत आये थे और उन्होंने वकालत प्रारम्भ की थी।

पिता से काम सीख लेने के बाद, सन् १६१२ से शाह मुहम्मद इलाहाबाद रहने लगे और वहीं वकालत करने लगे। थोड़े ही समय में इनकी प्रतिभा की धाक बैठ गयी। सभी इनकी क़ानूनी योग्यता की प्रशंसा करने लगे। इन्होंने कई बड़े पेचीदे मुक़दमें जीते। अन्त में, इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर सरकार ने इनको इलाहाबाद हाईकोर्ट का जज मुक़र्रर किया। इस समय इनकी अवस्था केवल ३४ वर्ष ही की थी। इतनी छोटी उम्र में ऐसा सम्मान जनक तथा ज़िम्मेदारी का पद बहुत कम लोगों को मिला होगा।

इस पद पर रहकर शाह मुहम्मद सुलेमान साहब ने अपनी योग्यता तथा न्याय-शीलता से सब को प्रभावित्त किया। ६ वर्ष तक हाइकोर्ट के जज रहने के बाद, ४३ वर्ष की उम्र में वह इलाहाबाद

हाईकोट के प्रधान न्यायाधीश (चीफ़ जज) नियुक्त हुए पहले तो यह नियुक्ति अस्थायी थी, पर ४८ वर्ष की उम्र में वह स्थायी रूप से प्रधान न्यायाधीश नियुक्त हो गये। पाँच वर्ष तक इस पद पर रहने के पश्चात् वह भारतवर्ष की सब से बड़ी अदालत फ़ेडरल कोर्ट के जज नियुक्त हुए। इतनी थोड़ी उम्र में न्याय-संसार में, इतना अधिक आदर बिरले ही किसी ने प्राप्त किया होगा। अपने न्याय-शासन की अवधि में—अपने प्रान्त, के ही चीफ़ जस्टिस के पद पर बैठकर, सर शाह मुहम्मद सुलेमान ने --जो अपनी विद्या, ख्याति, यश तथा सेवाओं के कारण सरकार द्वारा 'सर' की उपाधि से भी विभूषित किये जा चुके थे —बहुत बड़े-बड़े काम किये। इनके फ़ैसलों की भाषा पढ़ने से पता चलता है कि वह क़ानून के तथा मानवी-स्वभाव के भी कितने बड़े पण्डित हैं। हाइकोर्ट के अधिकारों को पवित्र और अछूता रखने के लिये वह कितनी ही बार प्रान्तीय सरकार से झगड़ा भी मोल ले लेते थे।

सन् १९३० में पेशावर में जो भयंकर उपद्रव हुए थे, उनकी जाँच के लिये सरकार ने एक कमेटी बैठायी थी जिसके प्रमुख सदस्य सर शाह मुहम्मद थे। भारत के सैनिक-ख़र्चों की जाँच के लिये जो "कैपिटेशन कमेटी" बैठी थी, उसके भी वह सदस्य थे। इस कमेटी को यह सिफ़ारिश करना था कि भारत का कौनसा ख़र्च ब्रिटिश सरकार को खुद देना चाहिये। इसके दो अन्य मेम्बर लार्ड डूनेडिन और लार्ड टॉमलिन थे। इसी समिति की सिफ़ारिश पर भारत के सैनिक व्यय का एक अंश ब्रिटिश सरकार खुद देने लगी।

अस्तु, न्याय, गणित तथा अन्य क्षेत्रों में सर शाह मुहम्मद की गति का, ख्याति का पर्य्याप्त परिचय हमने दे दिया। अब शिक्षा-

जगत में शिक्षा के क्षेत्र में उनकी विशेष सेवाओं का भी किञ्चित् परिचय प्राप्त कर लेना चाहिये। अपने देशवासियों की शिक्षा में, प्रधानतः मुसलमानों की शिक्षा में सर शाह मुहम्मद की बड़ी रुचि रही है। उन्होंने उधर काफ़ी ध्यान दिया और परिश्रम किया है। इलाहाबाद में अपना कार्य प्रारम्भ करने के कुछ समय बाद ही, इन्हीं के प्रयत्न से वहाँ पर मुसलिम हाईस्कूल स्थापित हुआ। "मदरसाये सुभानिया" के वह अध्यक्ष थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के मुसलिम छात्रावास के मंत्री का काम भी आप बहुत दिनों तक सम्हाल चुके हैं। सर सय्यद अहमद ख़ाँ द्वारा स्थापित "मुसलिम शिक्षा-सम्मेलन" में लोगों ने रुचि लेना कम कर दिया था और वर्षों तक उसका अधिवेशन या तो हुआ ही नहीं—यदि हुआ भी तो बेजान रहा। सन १९२८ में अजमेर में उसका अधिवेशन हुआ और उस के अध्यक्ष सर शाह मुहम्मद सुलेमान थे। बस, इसी समय से इस संस्था में नयी जान और स्फूर्ति आ गयी और यह दूने उत्साह से काम करने लगी। उनका उस समय का, सभापति के पद से दिया गया भाषण उनकी विद्वत्ता, शिक्षा की समस्याओं की पूरी जानकारी तथा मानवी स्वभाव के अध्ययन का सुन्दर उदाहरण है। वह केवल किताबी शिक्षा के ही पक्षपाती नहीं हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि मैट्रिक की परीक्षा पास करने के बाद हरएक विद्यार्थी को किसी हुनर अथवा कला-कौशल को तथा यन्त्रीय शिक्षा को ग्रहण करना चाहिये। सन् १९२४ में—अर्थात् अखिल भारतीय मुसलिम शिक्षा-सम्मेलन के अधिवेशन के ६ वर्ष पहले सर शाह मुहम्मद युक्त-प्रान्तीय मुसलिम शिक्षा-सम्मेलन के बदायूँ-अधिवेशन के सभापति थे। यह सम्मेलन भी इनके सहयोग के बाद नयी शक्ति पा गया।

ढाका, अलीगढ़, आगरा तथा हैदराबाद आदि के विश्वविद्यालयों के समावर्त्तन सस्कार (उपाधि दान समारोह) के अवसर पर सर शाह मुहम्मद सुलेमान के दीक्षान्त-भाषण (कनवोकेशन ऐड्रेस) बहुत ध्यान से पढ़ने योग्य हैं। वह कभी भी अपने विषय से परे नहीं भागते—जो बात कहनी होती है, उसे घुमा फिरा कर नहीं कहते। इसलिये उनके व्याख्यान बहुत साफ़ और खरे होते हैं।

अस्तु, अलीगढ़ विश्वविद्यालय को सर सय्यद अहमद के बाद यदि कोई दूसरा महान् सहायक तथा नेता मिला है तो वह सर शाह मुहम्मद हैं। स्वर्गीय साहेबज़ादा आफ़ताब अहमदख़ाँ तथा डा० ज़ियाउद्दीन के निजी झगड़ों के कारण जब अलीगढ़ मुसलिम युनिवर्सिटी बड़ी ख़राब हालत को पहुँच रही थी, मुलमानों के बड़े आग्रह पर, सन् १९२८ में उन्होंने इसका "वाइसचान्सलर" बनना स्वीकार किया। उस समय से इस विश्वविद्यालय में जो नयी ज़िन्दगी आ गयी है—इसने जो अद्भुत् उन्नति की है—वह सचमुच अनोखी है।

भगवान् हमारे प्रान्त की इस विभूति को चिरायु करे।

सर सय्यद अहमद ख़ाँ

संसार कर्म-भूमि है। इस कर्म-भूमि में मानव-शरीर धारण कर जो व्यक्ति अपने जीवन का प्रत्येक क्षण सत्कार्य में बिताता है उसीका जीवन सफल और उसीकी ज़िन्दगी को ज़िन्दगी समझना चाहिये।

अलीगढ़ के प्रसिद्ध मुसलिम विश्वविद्यालय के कालेज के अहाते मे एक मसजिद है जिसके एक कोने में एक सादी क़ब्र बनी हुई है। इस क़ब्र में एक ऐसा व्यक्ति सो रहा है जिसने जन्म से लेकर मृत्यु तक अपना हरएक क्षण उपयोगी कार्यों में व्यतीत किया और मरने के समय मुसलिम कालेज के रूप में अपनी अमिट निशानी छोड़ गया। उस व्यक्ति का नाम सर सय्यद अहमद ख़ाँ है।

सर सय्यद हिन्दू-मुसलिम एकता के पक्के समर्थक थे। उनका कहना था कि हिन्दू और मुसलमान हिन्दुस्तान की मिट्टी से पैदा हैं और उसी में मिल जाएँगे। दोनों का एक ही मक़सद और एक ही वतन है। दोनों एक आदमी की दो आँखों की तरह हैं। इसलिए दोनों की भलाई से हिन्दुस्तान की भलाई है।

पर, उनके ज़माने में मुसलमान समुदाय की हालत बेहद ख़राब हो गयी थी। मुग़ल-राज्य का दीपक बुझ चुका था। सन ५७ का ग़दर भी असफल रहा। कल का राजा सड़क का भिखारी हो रहा था। मुसलमानों में एक ओर घोर जड़ता छाई थी, दूसरी ओर दक़ियानूसी मुल्ला और उलेमाओं (धर्म-पण्डितों) की मूर्खताओं से मुसलिम जनता गहरे अन्धकार से बाहर निकलने की चेष्टा भी नहीं कर रही थी। हिन्दुओं में बड़े-बड़े सुधारक पैदा हो रहे थे पर

अपने को जहाँ का तहाँ रखा था। इसलिये जब
खें खोलकर अपने चारों ओर मुसलमानों की ९
। उन्होंने अपनी जाति के उद्धार का बीड़ा उठ
। सेवा द्वारा ही उन्होंने देश की सेवा को अपन
-जान से अपनी जाति की सेवा में लग गये।

सर सय्यद अहमद खाँ

द्धार की कार्य-प्रणाली पृथक् थी। भारत में अ
नींव जम चुकी थी। फिर से मुसलिम-शासन
ह असम्भव स्वप्न समझ गये थे। साथ ही राजन
पहले नैतिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति क

आवश्यक समझते थे उनका विश्वास था कि यदि मुसलमानों के हृदय से अविद्या का नाश हो जावेगा तो धार्मिक जड़ता भी दूर हो जावगी दृष्टि व्यापक हो जावेगी। कूँए के मेंढक की सी हालत नहीं रहेगी और मुसलमान देश के उपयोगी अङ्ग बन जायंगे। इसीलिये उन्होंने अपना सारा जीवन मुसलमानों में शिक्षा प्रचार, उर्दू-साहित्य के उद्धार तथा मुसलिम-धर्म के व्यापक रूप के प्रतिपादन में बिता दिया। वह मुसलमानों के लिये ही नहीं पर भारत के लिये सबसे बड़े शिक्षावादी तथा शिक्षा-सुधारक हो गये। उन्होंने अपने को राजनीति से दूर रखा और अपने अनुयायियों को भी उससे दूर रहने की सलाह दी। सन् १८८५ में इण्डियन नैशनल कांग्रेस का जन्म हुआ। पर सर सय्यद उसमें सम्मिलित नहीं हुए। उन्हीं के प्रभाव से मुसलमानों में राजनैतिक-जीवन का प्रारम्भ बहुत विलम्ब से हुआ। यह कार्य, उनके बाद के सबसे बड़े मुसलिम नेता नवाब मुहसीनुलमुल्क तथा हिज हाइनेस आग़ा खाँ के प्रयत्न से १९०६ से शुरू हुआ। इसी साल मुसलिम लीग का जन्म हुआ था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सर सय्यद के समान कोई मुसलिम नेता अभी तक नहीं पैदा हुआ। इनके जीवन-काल में भारत के ही नहीं, विदेशों के मुसलमान भी इनको अपना नेता मानते थे। इन्होंने भारत के मुसलमानों में ही नहीं, संसार के मुसलमानों में प्राण फूंक दिया और एक मृत-प्राय जाति को सजीव कर दिया।

आश्चर्य की बात यह है कि इतना बड़ा नेता, इतना महान् शिक्षा-सुधारक तथा देश-विदेश में अपनी विद्या-बुद्धि के लिये पूजित व्यक्ति की शिक्षा शून्य के बराबर थी। बचपन में कोई ख़ास पढ़ाई नहीं हुई थी। अपने मन से, स्वयं पढ़कर, अरबी-फ़ारसी का अच्छा

ज्ञान हासिल कर लिया था और अंग्रेजी कभी पढ़ा भी नहीं बुढ़ापे तक कुछ थोड़े से शब्द सीख लिये थे जिसका उपयोग आसानी से कर लेते थे। यही इनकी निजी 'तालीम' थी।

मुसलमानों में सय्यद खानदान बड़ा आदरणीय समझा जाता है। सय्यद लोग पैगम्बर साहब से सम्बन्धित समझे जाते हैं। इस लिए सय्यद अहमद का परिवार योंही पूजित था, दूसरे उसकी धार्मिकता तथा मुसलिम-धर्म की जानकारी के लिये ऐतिहासिक ख्याति थी। इतिहास-प्रसिद्ध सय्यद हामी हेरात से भारत आये थे और दिल्ली में बस गये थे। मुग़ल नरेशों की इस परिवार पर विशेष कृपा थी। सय्यद अहमद के पूर्वज सय्यद जवादअली ख़ाँ बादशाह आलमगीर द्वितीय के वक्त में सिपहसालार थे और उनको "जवादुद्दौला" का खिताब मिला था। इनके नाना ख्वाजा फ़रीदुद्दीन अहमद बादशाह अकबर (दूसरे) के बड़े दीवान थे। इनके पिता सय्यद मुहम्मद तक़ी बड़े आलिमफ़ाज़िल और धर्मात्मा पुरुष थे और मुग़लसम्राट् उनका बड़ा आदर करते थे।

सय्यद अहमद के ऊपर इनके पिता के सीधे-सादे-धार्मिक जीवन का बड़ा प्रभाव पड़ा। इनकी माता विदुषी थीं। उनसे उन्होंने घर में ही थोड़ी बहुत शिक्षा प्राप्त की। बुद्धि की प्रखरता तथा नम्र स्वभाव के कारण वह बचपन से ही लोगों को काफ़ी आकर्षित कर लेते थे। पिता के साथ मुग़लसम्राट् के सामने भी कई बार जाना पड़ा। बादशाह ने इन्हें कई बार आदर-सूचक वस्त्र उपहार में दिये। इस प्रकार उन्हें मुग़ल दरबार और शाही शानशौक़त का भी ज्ञान था। यद्यपि उस समय दिल्ली के तख्त का चिराग़ बुझने ही वाला था, फिर भी शाही शान-शौक़त ज्यों की त्यों थी। इस्लामी तहज़ीब और

तालीम का केन्द्र दिल्ली ही था ्सालय बालक सय्यद को बहुत ही ऊँच वातावरण में रहन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था

अस्तु, हमारे चरित-नायक का जन्म १७ अक्टूबर, १८१७ में दिल्ली में हुआ था। तालीम जो कुछ भी हुई, वह घरेलू ही थी। सन १८३६ में इन्होंने ईस्टइण्डिया कम्पनी की नौकरी कर ली और एक सरकारी अदालत में पेशकार तैनात हुए। इस पद को "सरिश्तेदार" कहते थे। इनके परिवारवालों ने उनके इस कार्य का विरोध किया। वह चाहते थे कि सय्यद अहमद बादशाह बहादुरशाह की नौकरी कर लें। पर चतुर युवक सय्यद अहमद से यह छिपा नहीं था कि मुग़ल हुकूमत दम तोड़ रही थी। उसका अन्तकाल आ पहुँचा था। अतएव वह उसके साथ अपना भाग्य-दीपक भी नहीं बुझाना चाहते थे।

अदालत में परिश्रम और ईमानदारी से काम करने के कारण इनके अफसरों ने इनकी बड़ी क़द्र और प्रशंसा की और चार वर्ष बाद वह 'मुन्सिफ़' बना दिये गये। किन्तु, सरकारी कार्य करते हुए भी, वह अवकाश के समय अपना अध्ययन जारी रखते। इसी अध्ययन के परिणाम-स्वरूप सन १८४४ में इनकी पहली पुस्तक (फ़ारसी में) प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में दिल्ली के अतीत गौरव का, उसके महापुरुषों और साधुओं का बड़ा मार्मिक और गम्भीर वर्णन था। इस पुस्तक की बड़ी क़द्र हुई और फ्रेञ्च भाषा में भी इसका अनुवाद हुआ। इस ग्रन्थ से उनका इतना सम्मान बढ़ा कि "विश्व-पण्डितों" की संस्था—रॉयल एशियाटिक-सोसाइटी ने सन् १८६४ में इनको अपना सम्मानित सदस्य चुना। यह बड़ा गौरवमय पद था।

सन् ५७ के ग़दर के समय सय्यद अहमद बिजनौर में सरकारी-पद पर थे। उसी समय, बलवे में, नवाब महमूद खाँ के ८०० घुड़-

सवारों ने एक मकान को घेर लिया जिसमें कुछ अंग्रेज़ जाकर छिप गये थे। यह समाचार पाते ही, अपनी जान पर खेलकर सय्यद अहमद नवाब के पास गये और उनसे अंग्रेज़ों की जान छोड़ देने की प्रार्थना की। नवाब ने इस शर्त्त पर कि 'वे अंग्रेज़ यह इक़रारनामा लिख दें कि बिजनौर पर नवाब का ही कब्ज़ा रहेगा', उनको सही-सलामत छोड़ देना क़बूल किया। किसी तरह यह काग़ज़ लिखा गया और नवाब तथा सय्यद अहमद के चार घुड़सवार उन अंग्रेज़ों को मेरठ पहुंचा आये। सय्यद अहमद स्वयं बिजनौर में ही रह गये और नवाब की ओर से नगर का शासन करते रहे। पर, कुछ समय बाद ही इनकी उस नवाब से अनबन हो गयी और किसी तरह प्राण बचा कर वह भी मेरठ भाग गये। अंग्रेज़ों की जान बचाने के पुरस्कार में इनको मृत्यु तक एक विशेष रक़म 'पेंशन' के रूप में मिलती रही।

सन ५७ की उथल-पुथल तथा दिल्ली के विप्लव के समाप्त होते ही वह अपने परिवार की दशा देखने के लिये दिल्ली गये। कुटुम्ब के सभी आदमी मार डाले गये थे। केवल एक बूढ़ी माँ और नौकरानी बची थी और वे भी अपने एक साईस के मकान में छिपी थीं। तीन दिनों से उनको एक बूंद पानी भी नहीं मिला था। सय्यद अहमद ने तुरन्त पानी का प्रबन्ध किया और अपनी माँ को पानी पिलाने के पहले नौकरानी को पानी पिलाया। पर, कुछ बूँद पानी पीने के बाद ही नौकरानी के प्राण-पखेरू उड़ गये। सय्यद अहमद अपनी माता को मेरठ ले आये। इस समय इनका तबादला मेरठ हो गया था। पर, विपत्ति की मारी वह वृद्धा अधिक समय तक न जी सकी और मेरठ पहुँचने के एक माह के भीतर ही उसका शरीरान्त हो गया।

दिल्ली में अपने परिवार की तथा बिजनौर आदि नगरों की दुर्दशा का सय्यद अहमद पर बड़ा प्रभाव पड़ा उन्होंने अपने देशवासियों की दुर्दशा पर खून के आँसू बहाये और बड़ी गहराई के साथ बलवे के कारणों की छानबीन करने लगे। अपने इस अध्ययन और समीक्षा के उपरान्त उन्होंने एक पुस्तक लिखा जिसका नाम था "असबाब-ए-बग़ावत ए-हिन्द"-यानी "भारतीय विद्रोह के कारण।" इस उर्दू-ग्रन्थ का अनुवाद अंग्रेज़ी में भी प्रकाशित हुआ और उसके अनुवादक थे--सर ऑकलैण्ड कॉलविन तथा कर्नल (बाद में मेजर जेनरल) ग्राहम। ये दोनों अंग्रेज़ सय्यद अहमद की विद्या और अध्ययन के क़ायल थे। इस पुस्तक से सय्यद का नाम चारों ओर फैल गया। इसमें उन्होंने भारत की दयनीय दशा का अच्छा चित्र खींचा था और प्रजा एवं सरकार में अधिक निकट सम्पर्क स्थापित करने की अपील की थी। भारतीयों की अवस्था में सुधार के लिये उनमें शिक्षा-प्रचार की बड़ी हिमायत की गयी थी और यह समझाया गया था कि यदि भारतीय शिक्षित हो जावें तो उनकी सभी सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याएँ हल हो जावें।

इस प्रकार सय्यद अहमद का शिक्षा-प्रचार के विषय में विचार दृढ़ होता गया। शिक्षा का माध्यम वह उर्दू भाषा को बनाना चाहते थे, पर अंग्रेज़ी शिक्षा के भी कट्टर पक्षपाती थे। उनका विश्वास था कि पाश्चात्य-विद्या का, पाश्चात्य-साहित्य का भारतीयों को पूरा ज्ञान होना चाहिये और उससे लाभ उठाना चाहिये। वह उर्दू को फ़ारसी-अरबी से जकड़ कर ऐसी ज़बान नहीं बनाना चाहते थे कि वह केवल पण्डितों की ही भाषा रह जावे और सर्वसाधारण उसे न अपना सके। जिस प्रकार राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द हिन्दी भाषा में सुधार,

उसके साहित्य में वृद्धि तथा उसको सर्वसाधारण की भाषा बनाना चाहते थे उसी प्रकार सय्यद अहमद उर्दू को सर्वसाधारण की भाषा बनाने के प्रयत्न में थे और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उर्दू के वर्त्तमान साहित्य का उन्होंने श्री-गणेश किया। स्वयं भी उर्दू में अच्छे-अच्छे ग्रन्थ तय्यार किये तथा अन्य मित्रों को अपना अनुकरण करने के लिये प्रोत्साहित किया।

सन् १८५८ में इनकी बदली मुरादाबाद हो गयी और यहाँ पर वह "सदराला" यानी "सब-जज" का कार्य करते थे। नवीन-इतिहास के अध्ययन के लिये इन्होंने यहाँ एक स्कूल इसी वर्ष खोला था। सन १८६२ में वह ग़ाज़ीपुर भेज दिये गये। यहाँ का जीवन बहुत ही घटनापूर्ण रहा। यहीं पर इनकी जानपहचान असिस्टेण्ट सुपरिन्टेडेण्ट पुलिस कर्नल ग्राहम से हुई। कर्नल ग्राहम बड़े साहित्य-प्रिय व्यक्ति थे। सय्यद अहमद से वह बड़े प्रभावित हुए और दोनों की घनिष्टता हो गयी। यह दोस्ती इतनी बढ़ी कि कर्नल ग्राहम ने "सर सय्यद अहमद की जीवनी" भी लिखा। ग़ाज़ीपुर में ही, कर्नल ग्राहम के सहयोग से अंग्रेज़ी पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद प्रारम्भ किया गया। इसके लिये एक साहित्यिक गोष्ठी बनाई गई जिसकी पहली बैठक सय्यद अहमद के मकान पर हुई। इसमें प्रमुख भारतीय तथा यूरोपियन सम्मिलित हुए थे। इसी गोष्ठी ने समय पाकर "अलीगढ़ की साइन्टिफ़िक सोसायटी" का रूप धारण कर लिया। ग़ाज़ीपुर में कई अच्छे अंग्रेज़ी ग्रन्थों का उर्दू अनुवाद प्रकाशित किया गया।

ग़ाज़ीपुर से वह अलीगढ़ बदल दिये गये। इस नगर में कई प्रमुख तथा बुद्धिमान नवाब रहते थे। इनके परिचय तथा साथ से सय्यद अहमद को काम करने का अधिक अवसर मिला। वे सभी उनके

शिष्य और अनुयायी बन गये थे उनमें भी पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान के उपार्जन के साथ-साथ, प्राच्य ज्ञान-भण्डार की खोज की धुन समा गई।

शिक्षा-सम्बन्धी इनके कार्यों से प्रभावित होकर वाइसराय लार्ड लारेंस ने, सन् १८६६ में इन्हें स्वर्ण पदक प्रदान किया था। सन् १८६७ में इनकी बदली बनारस की हो गयी। संस्कृत-विद्या के इस केन्द्र में पहुँचकर सय्यद अहमद की ज्ञान-पिपासा और भी बढ़ गई। राजा शिवप्रसाद ऐसे साहित्य सेवी का भी साथ हो गया और उनकी हिन्दी सेवा देखकर वह उर्दू-साहित्य तथा मुसलिम-शिक्षा की वृद्धि के लिये और भी दृढ़-संकल्प हो गये। काशी में ही नौकरी करते हुए, लम्बी छुट्टी लेकर वह इङ्गलैण्ड गये और वहाँ के ऑक्सफ़ोर्ड, कैम्ब्रिज ऐसे विश्वविद्यालयों को देख कर बड़े प्रभावित हुए। भारत में भी, मुसलमानों में प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्या के समुचित ज्ञान के साथ ही धार्मिक शिक्षा भी देते रहने के उद्देश्य से, उन्होंने एक मुसलिम कालेज स्थापित करना निश्चित किया। सन् १८७० में विलायत गये थे और १८७२ में लौटे। नियुक्ति पुनः काशी में ही हुई। पर अपना संकल्प अधूरा छोड़ना आता ही न था। इसी वर्ष उन्होंने "मुहमडन एंग्लो-ओरियण्टल कालेज फ़ण्ड कमेटी" की रचना की और इस कमेटी ने कालेज के लिये धन एकत्रित करना शुरू किया।

इस संस्था के लिये अलीगढ़ उन्हें उपयुक्त स्थान जँचा। वह स्थान उन्हें बड़ा प्रिय था। उसको वह मुसलिम-संस्कृति तथा शिक्षा का केन्द्र बनाना चाहते थे। आज उनका स्वप्न सत्य चरितार्थ हुआ। परिश्रम से क्या नहीं होता। उनकी योजना में हिन्दू-मुसलमान, सभी ने धन से सहायता दी। फल-स्वरूप सन् १८७५ में योजना कार्य-रूप में परिणत की जा सकी। संस्था का उद्घाटन समारोह

सर विलियम म्योर के हाथों हुआ और कालेज भवन का शिलान्यास ८ जनवरी, १८७७ को, बड़े लाट, लार्ड लिटन के हाथों हुआ। इस संस्था को अनेक विद्वान अंग्रेज़ों और मुसलमानों का सहयोग प्राप्त हुआ था। सय्यद अहमद स्वयं विद्वानों को ढूंढ़ लाते और अपनी संस्था में नियुक्त करते। मुसलमानों ने बड़े जोश के साथ इसे अपनी चीज़ बना लिया और जी से सहयोग दिया। इसके आदि काल के अंग्रेज़ प्रोफ़ेसरों में बेक, मॉरिसन और ऑरनल्ड बहुत प्रसिद्ध हैं। मुसलिम विद्वानों में कविवर "हाली" और "शिबली" का नाम उल्लेखनीय है। १८७६ में नौकरी से पेंशन लेकर सैय्यद अहमद अलीगढ़ जाकर बस गये थे और यहाँ उनको दिन-रात अपनी संस्था की सफलता के लिये उद्योग करने का अवसर मिला। संस्था का पूरा वातावरण ही इनके प्रभाव से चमक उठा और हरएक विद्यार्थी तथा अध्यापक इनका पिता-तुल्य आदर करता। इनके उपदेश के अनुसार इस संस्था ने मुसलिम-संस्कृति में पगे हुए हज़ारों विद्यार्थी भारत में फैला दिये। भारत के प्रायः सभी बड़े मुसलिम नेता इसी संस्था की देन हैं। इसके अतिरिक्त, इस संस्था ने उर्दू-साहित्य को अमूल्य रत्नों से भर दिया, एक निर्जीव साहित्य सजीव हो उठा। यद्यपि अपने जीवन-काल में इन्हें कालेज का विश्व-विद्यालय के रूप में देखने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ था और उसने विश्वविद्यालय का रूप इनकी मृत्यु के बाद ही ग्रहण किया था, पर, इन्होंने इस संस्था को मुसलिम संस्कृति का भारतीय केन्द्र अवश्य बना दिया था।

केवल कालेज की स्थापना करने से ही उन्होंने अपने कर्त्तव्य की इति नहीं समझा बल्कि, भारत के मुसलमानों को शिक्षा-प्रचार की महत्ता बतलाने तथा शिक्षा-सम्बन्धी नयी योजनायें बनाने के लिये

भारत वर्षीय मुसलिम शिक्षा-सम्मेलन की स्थापना की और मरने के एक वर्ष पहले तक अर्थात् ७९ वर्ष की उम्र तक उसके मंत्री और परिश्रमी कार्यकर्त्ता बन रहे।

"सितारे हिन्द" की उपाधि इन्हें भारत-सम्राट् की ओर से सन १८६९ में मिली और सोलह वर्ष बाद, अर्थात् १८८६ में "सर" की उपाधि मिली। सरकार ने इनकी सेवाओं का समुचित आदर किया था।

अस्तु, शिक्षा-सुधारक के रूप में सर सय्यद अहमद का पर्य्याप्त परिचय हमको प्राप्त हो चुका। किन्तु वह केवल पुस्तक लेखक, विद्वान या शिक्षा-प्रचारक ही नहीं थे बल्कि बहुत बड़े समाज-सुधारक, धर्मात्मा और धार्मिक नेता तथा सिद्ध पत्रकार अथवा जर्नलिस्ट भी थे। इनके ज़माने में विलायत-यात्रा को केवल हिन्दू ही नहीं, मुसलमान भी बुरी निगाह से देखते थे। अंग्रेज़ी पढ़ना धर्म-विरुद्ध समझा जाता था। पर इन्होंने समाज के विरोध की परवाह न कर सन् १८६८ में अपने दोनों लड़कों को विलायत भेजा और वहीं शिक्षा दिलाया। बड़ा लड़का सय्यद महमूद बड़ा प्रतिभाशाली था और इङ्गलैण्ड से बैरिस्टरी पास कर लौटा और धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ इलाहाबाद हाईकोर्ट का जज बन गया। छोटा लड़का सय्यद हमीद सुपरिन्टेन्डेण्ट पुलिस हुआ। इन लड़कों को विलायत भेजने के लिये रुपये की ज़रूरत थी। सय्यद अहमद की समूची आमदनी दान-द्रव्य, ग़रीबों की सेवा तथा समाज के कार्य में व्यय हो जाती थी। अतः इन्हें अपना यह विचार छोड़ना पड़ता, पर लड़कों को सरकारी वज़ीफ़ा मिल गया और वह विलायत जा सके। अब इनको स्वयं इङ्गलैण्ड जाकर, वहाँ की दशा देखकर आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की सूझी। पर रुपया न था अतएव ऋण लेकर विदेश गये। इस यात्रा

से इन्हें बड़ा लाभ हुआ। जहाज़ में ही स्वेज़ नहर के बनाने वाले प्रसिद्ध फ्रेञ्च इञ्जीनियर मोशिये दी लेसे का साथ हो गया। इङ्गलैंड में लार्ड लारेंस ने इनका बड़ा सत्कार किया और प्रमुख लोगों से मिला दिया। सौभाग्य से इनके मित्र मेजर ग्राहम भी इन्हीं दिनों छुट्टी लेकर आ गये थे। इसलिये इन्हें और भी सुविधा हो गयी।

विलायत-यात्रा से लौटने पर दृष्टि और भी व्यापक हो गयी। मुसलिम-धर्म को विश्व-धर्म बनाने के लिये यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि उसकी असली और सच्ची व्याख्या की जावे। धार्मिक सुधार का अपना यह सन्देश सुनाने के लिये उन्होंने "तहज़ीबुल अख़लाक़" नामक पत्र निकाला। क़ुरान की आयतों की अपने ढंग से व्याख्या कर "तफ़सीर" प्रकाशित करने लगे। धार्मिक क्षेत्र में उनका यह हस्तक्षेप उनके विरोधियों और उलेमा और मुल्लाओं को बहुत बुरा लगा। सय्यद अहमद ने एकबार लिखा था कि "इस्लाम प्रकृति (क़ुदरत-नेचर) के अनुकूल है।" बस, इसी बात को तिल का ताड़ बना दिया गया। उनके ख़िलाफ़ फ़तवा दिया जाने लगा। उनका नाम "नेचरी" रखा गया। कुछ धर्म-भीरु मक्का गये और वहाँ के मुल्ला से भी इनके ख़िलाफ़ फ़तवा ले आये। जब सय्यद अहमद को इसकी सूचना मिली तो उन्होंने मुस्करा कर कहा कि—"मुझे हर्ष है कि मेरे ऐसे पापी के कारण कुछ लोग मक्का हो आये और अपना परलोक बना आये।"

महापुरुष अपने पथ से कभी भी नहीं डिगते। सर सय्यद अहमद ख़ाँ ने बड़ी धुन और लगन के साथ अपना मंत्र निभाया और अन्त में उनके विरोधी भी उनकी महत्ता स्वीकार करने लगे।

सन् १८९८ में उनकी मृत्यु हुई और मरते दम तक वह लोक-सेवा का कार्य करते रहे। ऐसे व्यक्ति का ही जीवन सफल है।

स्वामी श्रद्धानन्द

सन् १८५७ के ग़दर में हिसार (पञ्जाब) की गोरी पल्टन बड़े संकट में फँस गई थी। उसके लिये खाने-पीने की भी सुविधा न थी। कई दिन तक भूखे रहने के बाद उसे भोजन तथा अन्य सुविधायें एक व्यक्ति की सहायता से प्राप्त हुईं—उस व्यक्ति का नाम था नानकचन्द।

नानकचन्द की सेवाओं से प्रसन्न होकर अंग्रेज़ों ने उन्हें हिसार नगर का कोतवाल बना दिया और उनका बहुत सम्मान किया गया। उन्होंने हिसार में एक घुड़सवार पल्टन तय्यार की और स्वयं उसके "रिसालदार" बनकर, ब्रूटिश फ़ौज के साथ मेरठ में रहने लगे। उन्हीं दिनों, नेपाल की तराई में लड़ाई छिड़ गयी। सरकार की ओर से नानकचन्द भी अपनी पल्टन के साथ भेजे गये। उस युद्ध में अंग्रेज़ों की विजय हुई और उस लड़ाई को "मेलाघाट की लड़ाई" के नाम से इतिहास में स्थान मिला। इस विजय का यश नानकचन्द को ही प्राप्त हुआ और तब से सरकार उनकी बड़ी क़द्र करने लगी और वह पुलिस विभाग में ऊँचे पद पर काम करने लगे।

नानकचन्द के पिता श्री कन्हैयालाल पंजाब के शेर राजा रणजीत सिंह के दरबार में, कपूरथला के महाराजा की ओर से प्रतिनिधि थे। इस प्रकार यह परिवार इतिहास में प्रसिद्ध स्थान रखता है। नानकचन्द बड़े पुजारी और शङ्कर-भक्त थे। उन्होंने १४ वर्ष की उम्र से शिवजी की पूजा प्रारम्भ की थी और ५६ वर्ष की उम्र तक—मरने से कुछ ही वर्ष पहले तक नियमित रूप से शङ्करजी की उपासना करते रहे।

क व्यक्ति के छः सन्तानें थीं जिनमें सब से छोटे
राम था। यही मुंशीराम आगे चलकर भारत-वि
द हुए। शङ्कर-भक्त तथा मूर्त्ति-पूजक पिता की स
घोर आर्य समाजी तथा मूर्त्ति-पूजा विरोधी हो
ल्पना थी। यही नहीं, पिता की सब से छोटी अ

स्वामी श्रद्धानन्द

सन्तान होने के कारण बहुत ही आराम और सु
यक्ति अपना सब कुछ त्याग कर, देश की से
ावेगा—यह भी कौन सोच सकता था! और
त सुनिये—मदिरा, मांस, नाच-रंग आदि का व्य

एव विलासी व्यक्ति सब कुछ छोडकर देश के लिये गरुआ वस्त्र धारण कर गली गली मारा मारा फिरेगा यह भी किसी को स्वप्न मे ध्यान न आया होगा

पर, महापुरुषों की लीला ही विचित्र है। उनके जीवन से हमे यह बड़ी भारी शिक्षा मिलती है कि चाहे वह किसी भी वातावरण एवं संगत में रहें, अन्त में उनकी महान् आत्मा उनको वह महान् कार्य करने के लिये प्रेरित करती है जिसके लिये वह संसार में भेजे गये थे।

मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के पूर्वज संयुक्त प्रान्त के बलिया जिले के रहनेवाले थे। जीविका की खोज में कुछ वर्षों से पञ्जाब चले गये थे। वहाँ जालन्धर ज़िले के तलवान ग्राम में बस गये थे पर पिता नानकचन्द और पुत्र मुंशीराम दोनों का कर्म-क्षेत्र संयुक्त प्रान्त ही बना रहा। ग़दर से एक साल पहले--सन् १८५६ में मुंशीराम का जन्म हुआ। ग़दर के बाद से ही पिता का भाग्य चमका। उस समय शहर कोतवाली या पुलिस-इन्स्पेक्टरी का पद बहुत ही राजसी ओहदा समझा जाता था। पिता की बदली कभी मेरठ, कभी बरेली, कभी बनारस--इस प्रकार होती रही। सबसे छोटे लड़के होने के कारण वह उन्हीं के साथ रहते थे अतएव उनका बाल्यकाल बड़े ही लाड़-प्यार मे बीता। पढ़ाई-लिखाई कुछ भी न हो सकी।

फिर भी, बुद्धि बड़ी तेज़ थी। स्मरण-शक्ति तो अद्भुत् थी। बरेली में जब मौलवी ने पढ़ाना शुरू किया तो वह जितना पढ़ाता, सब चट याद कर लेते। बदायूँ में एक अफ़सर ने क़लम-दावात दी--झट उससे फ़ारसी के अक्षरों की हूबहू नक़ल कर दी। जम कर पढ़ाई १८७५ में शुरू हुई! पर, इन्ट्रेंस की परीक्षा के समय ही "सगाई" पक्की करने के लिये माता ने घर बुला लिया। इस समय वह बनारस

के क्वींस कालेज मे पढते थे हरएक अध्यापक इनकी प्रतिभा पर मुग्ध था--पर सगाइ की सायत टालना भारतीय अन्ध-विश्वास के कारण सम्भव न था--अतएव फ़ेल हो गये। पढ़ाई का सिलसिला इसी प्रकार टूटा और फिर शुरू हुआ। कभी मन नहीं लगा तो कभी पढ़ने नहीं गये; ग़ैर-हाज़िरी से नाम तक कट गया पर पिता से झूठ बोलते रहे कि "पढ़ता हूँ।" किसी क़द्र, पास-फ़ेल होते, फ़रवरी सन १८८८ में वकालत की अन्तिम परीक्षा पास की। उन दिनों, वकालत की परीक्षा पास करने के लिये बी. ए. पास करना आवश्यक न था। मुंशीराम की कालेज की पढ़ाई साल-दो साल से अधिक न चली।

युवा-अवस्था में चरित्र भी अच्छा नहीं था। संग-सोहबत का मनुष्य के जीवन पर बड़ा असर पड़ता है। पिता के उच्च सरकारी-पद पर होने के कारण बड़े-बड़े रईस और नवाबों के लड़कों का साथ था। उनके साथ के कारण नाच-रंग, शराब-कवाब दोनों की ही बुरी लत पड़ गयी थी। कभी-कभी पश्चात्ताप भी होता– पर बुरी आदत डालना सरल है, छोड़ना बड़ा कठिन। हुक्का भी बहुत पीते थे। उन दिनों सिगरेट का प्रचार न था। पिता नानकचन्द को अपने लड़के के इस पतन पर बड़ा खेद था। पर, वह कर ही क्या सकते थे! आवारा लड़का कुछ समय में नास्तिक भी हो गया। वह ईश्वर में ही विश्वास नहीं करता था। आस्तिक पिता के कलेजे पर और भी गहरी चोट लगी। पर उन्होंने अपने पुत्र को बुरा-भला नहीं कहा। कह कर भी क्या होता। लड़का तो बचपन से ही बड़े ज़िद्दी स्वभाव का था। जब वह ८-९ वर्ष का था, उसी वक्त की एक घटना है—पिता ने किसी बात पर डाँट दिया। इससे मुंशीराम इतने नाराज़ हो गये कि ज़ीने पर एक रस्सी से फाँसी लगाकर आत्म-

हत्या करने पर उतारू हो गये बड़ी कठिनाई से माँ ने समझा-बुझा कर शान्त किया

इनकी स्नेहमयी माता का देहान्त बिना अपने प्यारे पुत्र का विवाह देखे ही हो गया। पुत्र की २० वर्ष की अवस्था में ही वह उसे छोड़ गयीं। माता की इच्छानुसार पिता ने एक वर्ष बाद आगरा शहर से, बड़ी धूम-धाम से ब्याह किया। पर, लड़की कम-उम्र थी इसलिये पति-पत्नी का साथ कुछ वर्ष बाद हुआ।

मुंशीराम की धर्मपत्नी शिवरानी बड़ी आदर्श महिला थीं। उन्होंने तन-मन से पति की सेवा की। पति को दुर्व्यसन में फँसा देख कर उनको कभी क्रोध न आया। मुंशीराम शराब पीकर रात को दो बजे जब मस्त घूमते हुए घर आते, उनके मुख से निकलती हुई दुर्गन्ध के मारे लोगों को नाक न दी जाती तब शिवरानी बड़े आदर से उनकी सेवा करतीं और आराम से सुला देने का प्रबन्ध करतीं। पत्नी की इस सेवा का पति पर प्रभाव पड़े बिना न रहा - और धीरे-धीरे उनके चरित्र में बहुत कुछ सुधार होने लगा।

किन्तु, भोग-विलास में पड़े मुंशीराम की आत्मा अपनी महत्ता को प्रकट करने के लिये उचित अवसर की प्रतीक्षा ही कर रही थी। बुद्धि तीव्र थी - नेत्र चारों ओर से अनुभव और ज्ञान की तलाश मे थे, मन में अजीब बेचैनी सी बनी रहती थी।

नानकचन्द की जब बनारस को बदली हुई तब मुंशीराम को रामायण की कथा सुनने का अवसर मिला। इससे वह बड़े ही प्रभावित हुए। रामजी में और खासकर हनुमानजी में इतनी श्रद्धा हो गयी कि एक पैर से खड़े रहकर "हनुमान चालीसा" का पाठ करते थे। किन्तु, इनकी मूर्त्तिपूजा की भावना को पहली ठेस मिर्ज़ापुर में

लगी। विन्ध्याचल पर्वत पर विन्ध्याचल देवी की पूजा के समय पशुओं की बलि देखकर बड़ी घृणा हुई। पर, अभी तक विचार पक्का नहीं हो पाया था कि मूर्त्ति-पूजा उचित है वा अनुचित। जब इनकी उम्र १८ वर्ष की ही थी—उस समय की एक घटना का इन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। काशी में विश्वनाथजी का दर्शन करने जा रहे थे। किन्तु, उसी समय कोई राजा भी दर्शन करने आया था, इसलिये मन्दिर का रास्ता बन्द कर दिया गया था। भगवान के दरबार में बड़े-छोटे के भेद-भाव से मुंशीराम के हृदय को बड़ी चोट पहुँची।

उन दिनों वास्तव में हिन्दू-समाज में बड़े दोष फैल गये थे। सनातन धर्म का रूप बिगड़ चुका था। मूर्त्ति-पूजा की असली भावना को भूल कर लोग खेल-खिलवाड़ में फँस गये थे। जाति-पाँति, छुआछूत, बाल-विवाह, सामाजिक कुरीतियाँ आदि ने धर्म की जड़ ही काटनी शुरू कर दी थी। अपने ही दोषों के कारण हिन्दू धर्म और समाज दोनों रसातल को जा रहे थे। मुंशीराम ऐसे बुद्धिमान बालक से यह परिस्थिति छिपी न रह सकी। उन्होंने यह तो समझ लिया था कि हिन्दू-धर्म के सफ़ेद शरीर पर मैली चादर पड़ गयी है, पर उसे किस तरह से हटाया जावे, यह बात उनकी समझ में नहीं आ रही थी। पहले तो उन्होंने यही समझा कि ईश्वर को मानना ही बन्द कर दो तो धर्म के नाम पर होने वाला पाप बन्द हो जावेगा। पर, आत्मा इतनी सीधी बात से सन्तुष्ट न हो सकी।

जिस समय चित्त चञ्चल होकर भटक रहा था, आत्मा अन्धकार में टटोल रही थी—उसी समय एक प्रकाश दिखाई पड़ा। उन दिनों हिन्दू-धर्म के उत्थान के लिये स्वामी दयानन्द अथक परिश्रम कर रहे थे। वह भारत के कोने-कोने में यह मन्त्र दे रहे थे कि केवल

मूर्त्ति पूजन के चक्कर में पड़कर असली भगवान को न भूल जाओ जो निराकार और है धर्म को ऐसी चीज न समझो जो खान-पान से मिट जाये। बाल-विवाह मत करो। अभागिनी बाल विधवाओं का फिर से व्याह करा दो। लड़कियों का पढ़ाना पाप मत समझो। और सब से बड़ी बात यह कि पुराण और कथाओं को पढ़ते-पढ़ते अपने प्राचीन और असली धर्म-ग्रन्थ वेद को न भूल जाओ। स्वामी दयानन्द के उपदेशों से कुछ हिन्दू बहुत नाराज़ थे पर बहुत से लोग उन्हें हिन्दू-धर्म का उद्धारक और उसमें प्राण डालने वाला या नवजीवन प्रदान करने वाला समझते थे।

सन् १८८० ई० में स्वामी दयानन्द बरेली आये। नानकचन्द उन दिनों बरेली के कोतवाल थे! उस महापुरुष के व्याख्यान का प्रबन्ध किया गया अतएव पुलिस की ओर से नानकचन्द देख-रेख के लिये सभा में गये थे। जब उन्होंने व्याख्यान सुना तो इतने प्रभावित हुए कि दूसरे दिन अपने लड़के मुंशीराम को भी व्याख्यान सुनने भेजा—व्याख्यान सुनना था कि मुंशीराम के नेत्रों का परदा हट गया। जिस गुरु की तलाश में चित्त चञ्चल हो रहा था, वह गुरु मिल गया। फिर क्या था, महात्मा के चरणों पर गिर पड़े और अपने सभी पाप वहीं पर त्याग दिये। महात्माओं के दर्शन से जन्म-जन्म के पाप धुल जाने वाली उक्ति सत्य है। स्वामी दयानन्द ने मुंशीराम के कानों में वह मंत्र फूंका कि वह एक दूसरे ही व्यक्ति हो गये। फिर तो जितने दिन स्वामीजी बरेली रहे, उतने दिनों तक वह उन्हीं की सेवा में पड़े रहे और जब वह चले गये—मुंशीराम को बड़ा दुःख हुआ। किन्तु, उनके उपदेशों की छाप अमिट रही। मुंशीराम "आर्य-समाजी" हो गये। सनातन धर्म की प्रचलित रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करने वाले को "आर्य

समाजी' कहते है वास्तव मे स्वामी दयानन्द ने हिन्दू समाज को प्राचीन ऋषियो के समय का 'आर्य समाज' बनाने का प्रचार किया था—तब से यह नाम निकला और स्वामी दयानन्द के अनुयायी आर्यसमाजी कहलाने लगे। शिव-भक्त नानकचन्द को अपने लड़के की यह करतूत, जो उस समय धर्म से च्युत हो गया समझा जाता था, बहुत बुरी लगी पर पुत्र की तपस्या और लगन का अन्त में उन पर इतना प्रभाव पड़ा कि मरने के कुछ समय पूर्व वह भी "आर्य-समाज" के अनुयायी हो गये।

मुंशीराम बड़े स्वतंत्र विचार के व्यक्ति थे। उनके दो भाई ऊँचे सरकारी पद पर थे—एक मिर्ज़ापुर में, दूसरा हमीरपुर में थानेदार था। पिता की सिफ़ारिश से इनको भी नायब तहसीलदार का काम मिला पर तीन ही महीने में "बेगार" के मसले पर झगड़ा हो गया और काम छोड़ बैठे। पर, स्वतंत्र रूप से कमा कर, अपने बाल-बच्चों के साथ रहने की भी धुन सवार थी, इसलिये सन १८८४ से, मुख़्तारी की परीक्षा पास कर, जालन्धर ज़िले में मुख़्तारी का काम शुरू किया। तीन वर्ष बाद वह वकील भी हो गये और वकालत के ज़माने में अपनी प्रतिभा के कारण अच्छा नाम और धन कमाया।

जालन्धर में मुख़्तार बन कर आते ही मुंशीराम का जीवन बदल गया। अब उनको यह धुन सवार हो गयी कि किस प्रकार अपने देश में फैले धार्मिक अन्ध-विश्वास, छुआछूत, जाति-पाँति का पचड़ा आदि को दूर किया जावे और स्वामी दयानन्द का मन्त्र घर-घर सुनाया जावे, स्वामी दयानन्द के उपदेशों का तो इतना प्रभाव पड़ा था कि मुंशीराम स्वामी दयानन्द लिखित "सत्यार्थ प्रकाश" की एक प्रति के लिये एक दिन लाहौर में ८-९ घण्टे तक पैदल चक्कर काटते रहे।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने एक भोगी-विलासी, शराबी व्यक्ति को कर्त्तव्य-पथ का इतना श्रेष्ठ पथिक बना दिया कि आज भारत के करोड़ों नर-नारी देवता की तरह उसकी पूजा करते हैं।

अस्तु, श्रद्धानन्द अर्थात् मुंशीराम का नियमित जीवन जालन्धर में शुरू हुआ जब कि सन १८८४ में इन्होंने वहाँ मुख्तारी शुरू की और उसके बाद क्रमशः जालन्धर और लाहौर में वकालत करने लगे। असली तथा अन्तिम वकालत की परीक्षा सन १८८८ में पास की थी। इसी वर्ष से मुख्तार से बदल कर वकील हो गये और थोड़े ही समय में बड़े प्रतिभाशाली वकील समझे जाने लगे।

किन्तु, इनके वकालत की प्रतिष्ठा देखने का अवसर स्नेही पिता को न मिला। फ़रवरी १८८६ में नानकचन्दजी बीमार पड़े और कुछ अर्से की बीमारी में चल बसे। जब मुंशीराम का चरित्र बिलकुल सुधर गया और अपने उद्योग से काफ़ी पैसा कमाने लगे तो उसका सुख उनकी परम पतिव्रता स्त्री भी अधिक समय तक न देख सकीं। वकालत की अन्तिम परीक्षा पास करने के चार वर्ष के भीतर ही, अर्थात् सन् १८९२ में शिवरानी देवी का देहान्त हो गया। वह दो लड़के और दो लड़कियाँ छोड़ कर मरी थीं। मुंशीराम को पत्नी-वियोग से बड़ा कष्ट हुआ ; दूसरे, उन्हें बच्चों को भी सम्हालना पड़ता। उस अवसर पर यदि इनके बड़े भाई श्री आत्माराम ने बच्चों की देख-रेख अपने प्रबन्ध में न ले ली होती तो इन्हें बड़ी असुविधा होती।

मुंशीराम अब पहले जैसे मुंशीराम न थे। अब उन्होंने देश और समाज की सेवा का व्रत ले लिया था। इन दोनों कार्यों के लिये आर्य्यसमाज ही ऐसी संस्था प्रतीत हुई जो उद्देश्य को सफल करने में सहायक हो सकती थी। उस समय भारत के बड़े-बड़े विद्वान् और

धुरन्धर पण्डित इस संस्था की ओर आकृष्ट हो रहे थे और उसमें सह-योग दे रहे थे। पर, आर्य-समाज में प्राण-पण से शामिल हो जाने वाले तीन ही महापुरुष थे—मुंशीराम, पं० गुरुदत्त और श्री लेखराम। मुंशीराम का कार्य सबसे ठोस हुआ अतएव आर्य-समाज के निर्माताओं में उनका प्रथम स्थान समझा जाता है।

आर्य-समाज के लिये मुंशीराम ने कितना काम किया, यह वर्णन करना असम्भव है। उस संस्था की हर एक प्रगति पर "स्वामी श्रद्धानन्द" के नाम की छाप है। प्रचार कार्य के लिये, सन् १८९२ में इन्होंने "प्रचारक" नामक पत्र निकाला। संस्था में अनेक कारणों से जो गृह-कलह उत्पन्न हो गया था, उसको दूर करने के लिये मुंशीराम ने बड़ी चेष्टा की और ६ मार्च १८९७ को, आर्य-समाज के निर्माता महात्मा लेखराम की हत्या होने पर, उनकी चिता पर एकत्रित होकर, सभी पञ्जाबी आर्य-समाजियों से यह शपथ ली गयी कि वह भविष्य में एक होकर, सच्चे भाव से समाज की सेवा का कार्य करेंगे।

मुंशीराम ने पञ्जाब को ही अपना प्रधान कार्य-क्षेत्र बनाया। मुसलिम-संस्कृति का वहाँ पर इतना अधिक प्रभाव था कि भारतीय अर्थात् हिन्दू-संस्कृति को पुनः जागृत करने के लिये वहाँ अत्यधिक परिश्रम करना आवश्यक था—इसलिये कर्मठ मुंशीराम ने तन मन से आर्य-समाज का व्रत उठा लिया और काम में लग गये। सन् १८९२ में उन्होंने अपना "प्रचारक" पत्र निकाला जिसमें बड़े गम्भीर लेख तथा विचारणीय विषय होते थे। यह पत्र बहुत समय तक समाज की सेवा करता रहा। कुछ ही समय में वह आर्य-प्रतिनिधि सभा, पञ्जाब के प्रधान चुने गये।

किन्तु, केवल व्याख्यान या संगठन से ही मुंशीराम को सन्तोष न हुआ। वह कोई ठोस कार्य करना चाहते थे और इसी लिये उन्होंने यह संकल्प किया कि भारत में वैदिक-पद्धति से, प्राचीन ऋषि-मुनियों की प्रणाली से, आश्रम के ढंग पर शिक्षा देने के लिये एक गुरुकुल-महाविद्यालय खोला जावे। साथ ही, इस महाविद्यालय में पश्चिमी शिक्षा, भाषा और साहित्य का भी पूरा ज्ञान कराया जावे। ऐसी संस्था की स्थापना की धुन मुंशीराम को सन् १८९६ से ही थी पर असली काम १८९८ से शुरू हुआ। गुरुकुल के लिये तीस हज़ार रुपये का शुरू में ही कम से कम खर्च था। मुंशीराम ने प्रतिज्ञा की कि इतना रुपया चन्दे से इकट्ठा कर तब घर में पैर रखेंगे और वह अगस्त, १८९८ में मकान से निकल पड़े। उन दिनों वह लाहौर ही में रहते थे। वकालत की परवाह ही क्या थी। चारों ओर 'गुरुकुल' के नाम की धूम मच गयी। यहाँ तक कि मुंशीराम को लोग 'गुरुकुल' के नाम से ही सम्बोधित करने लगे। इनके चन्दा एकत्रित करने के कार्य में नबीबख़्श बैरागी, रामभजदत्त चौधरी आदि ने बड़ी सहायता की। ८ अप्रैल १९०० को इनकी प्रतिज्ञा पूरी हुई! तीस हज़ार के बदले चालीस हज़ार रुपया इकट्ठा हो गया।

महाविद्यालय के लिये हरिद्वार का स्थान इन्हें बहुत पसन्द आया। वहाँ पर विद्यार्थी शहर की आबोहवा से दूर, बड़े आनन्द की ज़िन्दगी बिता सकते थे। भाग्य से, मुंशीराम के भक्त मुंशी अमलसिंह ने हरिद्वार ज़िले में अपना कांगड़ी नाम का ग्राम और उसकी १२०० बीघा ज़मीन इस कार्य के लिये दे दिया। यह जमीन सन् १९०२ में मिली थी। तब तक फूस की झोपड़ियों में ही विद्यालय का काम चलता रहा। मुंशीराम ही इस महाविद्यालय

के आचार्य या प्रिंसिपल थे और बड बड विद्वानो को अपनी सस्था मे अध्यापक बना कर बुला लिया था पन्द्रह वष तक वह इस सस्था की निरन्तर सेवा करते रहे जिसका परिणाम आज भारतवर्ष जानता है। आज भारत में हजारों देश-सेवक या विद्वान् इसी संस्था से निकल कर अनेक उपयोगी कार्यों में लगे हुए हैं। आज भारत में एक नहीं अनेक गुरुकुल स्थापित हो गये हैं और प्राचीन भारतीय सभ्यता की पताका फहरा रहे हैं और आज गुरुकुल कांगड़ी हमारे देश के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में है। यद्यपि यह बात सच है कि वह उतनी महान और आदर्श संस्था न बन सकी जितनी मुंशीराम चाहते थे-- इसका एकमात्र कारण यह था कि देश का इतना अधिक अन्य कार्य भी उनको करना पड़ता था कि वह इच्छानुसार अपनी संस्था की सेवा न कर सके। इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध पत्र "दि न्यू स्टेट्समैन" ने अपने २० जून सन् १९१४ के अङ्क में इस संस्था की बड़ी प्रशंसा की थी। ब्रिटेन के प्रसिद्ध स्व० प्रधान मंत्री श्री रैमज़े मैकडोनेल्ड ने इस संस्था को देखा था और बड़ी तारीफ़ की थी। सन् १९१६ में लार्ड चेम्सफ़ोर्ड (भारत के वाइसराय) भी यहाँ पधारे थे। महात्मा गांधी तो यहाँ आकर बहुत ही प्रभावित हुए थे और मुंशीराम के चरणों पर गिर पड़े थे। स्वर्गीय साधु सी० एफ़० एण्ड्रूज़ मुंशीराम के बड़े भक्त थे और उनके गुणों की बड़ी प्रशंसा करते थे।

६ नवम्बर १९१६ को श्री मुंशीराम ने सन्यास आश्रम ग्रहण किया और गुरुकुल से अलग हो गये। सन्यासी का बाना पहन कर वह देश की सेवा के लिये सम्पूर्ण भारत की विभूति बन गये। सन्यासी मुंशीराम का नाम स्वामी श्रद्धानन्द पड़ा और इसी नाम से वह अधिक विख्यात हैं।

ससार में आर्य-सभ्यता तथा धर्म के प्रचार के लिये सन् १९०८ मे ही स्वामी श्रद्धानन्द ने "आर्य-सर्वदेशिक सभा"—की स्थापना की। यह संस्था आज भी पर्य्याप्त रूप से काम कर रही है।

स्वामी श्रद्धानन्द की सब सेवाओं को गिनाने के लिये बहुत कुछ लिखना पड़ेगा। इसलिये, अब हम संक्षेप में ही कुछ लिख रहे हैं। राष्ट्र-भाषा हिन्दी के वह बड़े प्रेमी थे, इस प्रेम के पुरस्कार-स्वरूप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भागलपुर वाले चौथे अधिवेशन के अध्यक्ष बनाये गये और वह ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने "हिन्दी" को भारत की "राष्ट्र-भाषा" बनाने का दावा पेश किया था।

सन् १९१८ में गढ़वाल में बहुत ज़ोरों का अकाल पड़ा। इस अकाल मे, दुःखितों तथा पीड़ितों की सबसे अधिक सेवा स्वामी श्रद्धानन्द ने की। हिन्दू-जाति में अछूत कहलाने वालों के प्रति जो घोर अन्याय हो रहा था, उसको दूर करने तथा अछूतों (हरिजनों) के उद्धार और उनकी उन्नति के लिये उन्होंने बहुत अधिक काम किया।

सन्यास लेने के पश्चात् वह दिल्ली में रहने लगे थे! सन् १९१८ से वह राजनीति में भी भाग लेने लगे। महात्मा गान्धी के असहयोग आन्दोलन से वह सहमत न थे, फिर भी अक्टूबर, १९२३ में उन्हे जेल जाना पड़ा था। सन १९२१ में उन्होंने बर्मा की यात्रा की थी। १९२२ से हिन्दू महासभा में भाग लेने लगे थे। दिल्ली में उन्होंने 'शुद्धि' का भी कार्य शुरू किया। इस कार्य का उद्देश्य था कि वह लोग जो हिन्दू नहीं हैं, यदि "हिन्दू" धर्म अपनाना चाहें तो उनको हिन्दू बना लेना चाहिये। इस आन्दोलन के कारण बहुत से लोग हिन्दू बने।

किन्तु, इनके इस कार्य का कुछ मुसलमानों ने ग़लत अर्थ लगाया, यद्यपि स्वामीजी "शुद्धि" द्वारा केवल यह प्रमाणित करना चाहते थे कि

हिन्दू-धम बडी व्यापक वस्तु है और जो भी चाहे, इसे अपना सकता है पर, ग़लत उत्तजना का परिणाम यह हुआ कि स्वामीजी को अपने अमूल्य-जीवन से ही हाथ धोना पड़ा।

सन् १६२६ में वह काफ़ी बीमार हो गये। बीमारी बढ़ती ही गयी—फिर भी पत्र-व्यवहार और समाज-सेवा का काम जारी रहा। बहुत कमज़ोर हो गये और खाट से लग गये। उनकी ऐसी ही दशा में एक मुसलिम नवयुवक ने, उनके कमरे में जाकर, २३ दिसम्बर, १६२६ को उनकी हत्या कर दी। इस प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द अमर शहीद श्रद्धानन्द हो गये।

इस महापुरुप के विपय में बहुत कुछ ग़लत-फ़हमियाँ हैं। सनातन-धर्मी हिन्दू आर्य-समाजी समझ कर उनसे चिढ़ते थे—पर वह सनातन-धर्म के विरोधी नहीं थे। वह केवल धर्म के नाम पर होने वाले अन्याय, धर्म के नाम पर होने वाली बुराइयों और कुरीतियों के विरुद्ध थे। उनके शुद्धि-आन्दोलन से मुसलमान बहुत नाराज़ थे—पर वह सभी धर्म्मों का समान रूप से आदर करते थं। पर, वह यह नहीं स्वीकार करते थे कि कोई व्यक्ति इच्छानुसार अपना धर्म नहीं बदल सकता। उनके कार्यों की आज सभी सराहना करते हैं—उनकी मृत्यु के बाद! हरएक महापुरुष की वास्तविक महत्ता का पता उसके न रहने पर ही लगता है। हरएक सुधारक को गालियाँ सहनी पड़ती हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द ने सन १६२० से "श्रद्धा" नामक पत्रिका निकाला था। उसे पढ़िये तो पता चलेगा कि वह कितने उदार विचार के पुरुष थे। यह कहना भूल है कि वह केवल "हिन्दू-जाति" के सेवक थे। उन्होंने हिन्दू महासभा (१६२६) केवल इसीलिये छोड़ दिया

कि उनको उसकी कट्टर पसन्द नहीं आयी वह हिन्दू महासभा को घोर साम्प्रदायिक दायरे में नहीं फँसने देना चाहते थे। राजनीति में वह "असहयोग" के पूरे पक्षपाती न थे--पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वह देश की राजनैतिक-प्रगति के मामूली हिमायती थे।

भारत में उनके प्रति लोगों की कितनी श्रद्धा थी तथा विश्वास था, इसका पता इसी बात से चलता है कि सूरत की कांग्रेस में जब वह नहीं सम्मिलित हो सके तो महामना गोखले ने उन्हें बहुत उलाहना दिया था। सन् १९१२ में लाहौर से प्रकाशित होने वाले "प्रकाश" पत्र ने अपने पाठकों से यह प्रश्न किया था कि भारत में छः महापुरुष कौन हैं। उस समय जो उत्तर आये थे, वह बड़े रोचक हैं। सब उत्तरों को मिलाकर इस प्रकार परिणाम निकला- गोखले ७९२ वोट, मुशीराम (श्रद्धानन्द) ६०३, लाला लाजपतराय ५३३, तिलक ४७५, महामना मालवीय ४७५ और दादाभाई नौरोजी ४३३।

जिस व्यक्ति को लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक, महामना मालवीयजी तथा दादा भाई नौरोजी ऐसे महान् नेताओं से भी अधिक आदरणीय स्थान मिले, वह कितना महान् व्यक्ति होगा-- यह पाठक स्वयं अनुमान कर लें।

यह आश्चर्य और महत्व की बात है कि हिन्दू-ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार स्वामी श्रद्धानन्द का देहावसान उसी नक्षत्र और योग में हुआ था जिसमें, महाभारत-काल में, भीष्म पितामह ने महाप्रयाण किया था।

सर आनन्द स्वरूप

संयुक्त प्रान्त के आगरा नामक प्रसिद्ध शहर में 'दयालबाग़' ऐसी विख्यात संस्था है कि आज भारत के हर एक कोने में उसका नाम फैला हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दयालबाग़ ऐसी संस्था हमारे भारत में कोई भी नहीं है। यों तो औद्योगिक संघटन की अनेक संस्थायें हमारे देश में हैं पर जिस लगन और धुन से, जिस धार्मिक श्रद्धा और विश्वास के साथ दयालबाग़ के उपनिवेश का रहने वाला हर एक प्राणी काम करता है, वह सराहनीय ही नहीं बल्कि आश्चर्यजनक भी है।

दयालबाग़ का हर एक प्राणी, वहाँ रहनेवाला हर एक स्त्री-पुरुष, बालक-बूढ़ा अपने समय का पूरा उपयोग करता है, अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार सभी काम करते हैं और उन्हें उनकी ज़रूरत भर सभी चीज़ें प्राप्त होती हैं। आवश्यकता की सभी चीज़ें यहाँ के कारख़ानों में बनती हैं। वे दूध-घी-मक्खन से लेकर कपड़ा, बिजली का सामान आदि भी स्वयं बनाते हैं जिनसे वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति ही नहीं करते वरन् देश में स्वदेशी वस्तुओं की संख्या भी बढ़ा रहे हैं और हमारे सामने उद्योग-धन्धे का एक नया आदर्श उपस्थित कर रहे हैं।

२० जनवरी १९२५ ई० में पाँच हज़ार रुपये की पूँजी तथा चार एकड़ ज़मीन से इस संस्था का श्रीगणेश हुआ था और आज वहीं, ३००० एकड़ ज़मीन में एक लम्बी और साफ़-सुथरी बस्ती है जिसमें ५००० नर-नारी आबाद हैं। स्कूल है, कालेज है, स्वास्थ्य

इत्यादि की देख-रेख का बहुत अच्छा प्रबन्ध है। यहाँ का जीवन सादा, सरल और सुखद है। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि इस समूचे उपनिवेश का हर एक कार्य-कर्त्ता और बड़ी-बड़ी मशीनों पर काम करने वाले हर एक मज़दूर के तन और मन एक ही नेता के चरणों पर निछावर हैं, एक ही गुरु के लिये अर्पित हैं और एक-प्राण-सूत्र मे पिरोयी पाँच हज़ार आत्मायें एक ही व्यक्ति के आदर्श और उपदेश से अनुप्राणित हो रही हैं।

दयालबाग स्वयं एक आन्दोलन है, स्वयं एक महान् अनुभूति है। यहाँ पर साम्यवादियों के स्वप्न, धर्मात्माओं की जिज्ञासा तथा कर्मठ पुरुषों की शक्ति के विकास की महत्वाकांक्षा का उत्तर तथा क्षेत्र मिलता है। यहाँ की इमारतों इत्यादि में लगभग एक करोड़ रुपया लग चुका होगा। करोड़ों रुपया जीविका के लिये आकुल शिक्षित परिवारों के भरण-पोषण में व्यय हो चुका होगा। इसके अतिरिक्त, शान्ति की भूखी लाखों आत्माओं को जो शान्ति तथा सन्तोष मिला है, उसका मूल्य अकथनीय है। इस संस्था को जिसने देखा, वही प्रशंसा किये बिना न रह सका। काँग्रेस के सभापति, प्रान्तों के गवर्नर, वाइसराय, बड़े-बड़े नेता, महात्मा गान्धी ऐसी विभूतियाँ यहाँ गयी हैं और यहां के कार्यों से, आयोजन से, कार्य-प्रणाली से बहुत प्रभावित हुई हैं। युक्त प्रान्त के गवर्नर सर हार्कोर्ट बटलर ने इस संस्था के विषय में एक बार लिखा था :—

"आप कल कारख़ाने की शिक्षा को साधारण शिक्षा के साथ मिला कर चला रहे हैं। इस विषय में आपके विचार बहुत ऊँचे दर्जे के और पक्के हैं। भारत के हर कोने से विद्यार्थी आपके यहाँ आते हैं। भोजन तथा विवाह के विषय में आपके यहाँ कोई भेद-

..आपके महान पथ-प्रदर्शन की भावना यहां
पड़ती है और समूचे उपनिवेश का जीवन एक बड़े
भांति सराहनीय है।"
कों को हमने संयुक्त प्रान्त की एक महान संस्था के
। अब आप यह सोच सकते हैं कि धर्म-व्यवसाय-स

सर आनन्द स्वरूप

ी गुणों वाली ऐसी संस्था का नेता कितना महान होग
की आत्मा को अपने संकल्प के अनुकूल बना सकत
ऐसी महत्ता को ही देखकर प्रसिद्ध ब्रिटिश पत्रकार
है कि "मुझे आशा नहीं कि इन (सर आनन्दस्व

—9

का समता का कोई भी व्यक्ति भारत में या संसार के किसी पर्दे में कभी मिल सकेगा

मेजर यीट्स ब्राउन ने इनके विषय में लिखा है "वह अद्वितीय महापुरुष हैं जिनकी समता का कोई भी दुनिया में नहीं दिखलाई पड़ता।"

सचमुच, ऐसे ही महापुरुष स्वर्गीय सर आनन्दस्वरूप साहबजी महाराज थे जिन्होंने आगरा में दयालबाग की स्थापना की और जिनके निजी नियन्त्रण में इस संस्था ने इतनी उन्नति की थी।

आनन्दस्वरूपजी आत्मज्ञानी पुरुष थे। वह पहुँचे हुए फ़क़ीर थे। फ़कीरों का कोई वतन नहीं होता। संसार उनकी मातृभूमि—जन्म-भूमि होता है। फिर भी, दयालबाग के नाते तथा उनकी कर्मभूमि होने के नाते हम उनको अपने प्रान्त की विभूति मानते हैं।

उनका जन्म १८८१ ई० में अम्बाला (पञ्जाब) में एक अहलूवालिया (वैश्य) परिवार में हुआ था। १८ वर्ष की उम्र में ही मैट्रिक की परीक्षा पास कर वह लाहौर के डी.ए.वी. कालेज में भर्त्ती हो गये। किन्तु किताबी विद्या से अधिक अध्यात्म-विद्या की प्यास इन्हें पागल बना रही थी। बचपन से ही बड़े गम्भीर स्वभाव के तथा भगवद्भक्त थे। वेदान्त इत्यादि का अधिक से अधिक अध्ययन करने पर उनके मन में यह बात जमती गयी कि धर्म का असली तत्त्व बिना गुरु के, बिना मार्ग-प्रदर्शक के कभी नहीं दिखाई देता। उनको यह बात अच्छी तरह से याद आती थी कि:—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, का के लागूं पांय।
बलिहारी वा गुरु की, गोविन्द दिया बताय॥

इस प्रकार, आनन्दस्वरूप गुरु की तलाश में पागल हो गये। अन्न-जल छोड़ बैठे। एक दिन उनको स्वप्न हुआ—क्या देखते हैं कि

एक भव्य मूर्त्ति उनके सामने खडी है जो कहती है कि "मै सत्गुरु हू" आकुल आत्मा ने पूछा— आप कहा रहते है —तो उत्तर मिला— "इलाहाबाद"। नींद खुलते ही भक्त अपने गुरु के लिये पागल-सा हो गया। उसने इलाहाबाद के अपने एक मित्र के पास अपनी सपने की कहानी लिख भेजा। मित्र ने इलाहाबाद के कुछ प्रमुख पुरुषों के चित्र दिखलाये। शिष्य ने तुरत अपने स्वप्न के गुरु को पहचान लिया। वह थे—प्रसिद्ध राधास्वामी सम्प्रदाय के तृतीय आचार्य्य "हुजूर महाराजा साहिब पण्डित ब्रह्मशङ्कर मिश्र एम.ए.।" उन दिनों वह इलाहाबाद में ही रहते थे। अपने गुरु की तलाश में हमारे चरित-नायक को कितनी कठिनाई तथा मानसिक पीड़ा झेलनी पड़ी थी, यह उन्हीं के शब्दों में पढ़िये :—

"मैं ऐसे सत्गुरु को ढूँढ़ निकालने के प्रयत्न में प्रायः निराश होने लगा था कि जो आत्मिक ज्योति के पथ का निर्देश कर सकता। मैं नवयुवक था और इस सत्य का अनुसन्धान करने के लिये पागल हो रहा था। मैं वृक्षों, आकाश, यहाँ तक कि छोटी-छोटी दूब तक से पूछता फिरता था कि यदि सत्य है तो वह मुझे समझा दें। मैं बच्चों की भाँति सिसक-सिसक कर रोता था और नतमस्तक होकर ईश्वर से प्रार्थना करता था कि मुझे प्रकाश दे।"

ऐसे जिज्ञासु, ज्ञान की भूख से पागल व्यक्ति ही जीवन का सच्चा मार्ग देख पाते हैं और दिखला सकते हैं। भगवान ने उनकी पुकार सुन ली और गुरु प्रदान किया। उन दिनों, आनन्दस्वरूप कालेज की पढ़ाई छोड़कर अम्बाला के तार घर में नौकरी करते थे। गुरु इलाहाबाद में रहते थे इसलिये इन्होंने अपनी बदली इलाहाबाद करा ली और गुरु के चरणों में मस्तक रखकर उपदेशामृत पान करने

लगे। सन् १६०७ में ब्रह्मशङ्करजी का स्वर्गवास हो गया। उनके स्थान पर, गाज़ीपुर के तपस्वी सत्संगी 'सरकार साहब' बाबू कमलाप्रसाद सिनहा, वकील ही गुरु, नेता तथा राधास्वामी सत्संग के सञ्चालक हुए। आनन्दस्वरूप गुरु से दूर कैसे रह सकते थे। इन्होंने अपना तबादला बनारस करा लिया और यहीं से हर रविवार को गाज़ीपुर चले जाते और गुरु की सेवा तथा सत्संग से लाभ उठाते।

तार-घर की नौकरी में कोई बहुत आमदनी तो होती नहीं। इसके अतिरिक्त इनके पास जो कुछ रहता-बचता—वह दान-धर्म में व्यय कर डालते। कभी-कभी, तो ऐसी नौबत आ जाती कि खाने के लिये एक पैसा तक न बचता। पर, वह कर्त्तव्य-मार्ग से कभी विचलित न हुए। उनकी धर्मपत्नी भी इतनी साध्वी तथा सहनशीला महिला थीं कि उन्होंने अपने पति के धर्म-मार्ग में सदैव धैर्य-पूर्वक उनका साथ दिया और अपनी किसी भी कठिनाई या परेशानी पर ज़रा भी निन्दा या चिन्ता न व्यक्त की, न उसका अनुभव ही किया।

अस्तु, दिसम्बर १६१३ में "सरकार साहब" की भी इस लोक की लीला का अन्त हो गया। उनके स्थान पर श्री आनन्दस्वरूप ही गुरु-पद पर अधिष्ठित हुए और उनको ही सत्संग की पूरी ज़िम्मेदारी सम्हालनी पड़ी। आत्मोन्नति, आत्म-विकास तथा आत्म-दर्शन की खोज में लगा हुआ जीवन अपनी शिक्षा प्राप्त करने की अवस्था पार कर शिक्षा देने के कार्य में संलग्न हुआ। धर्माचार्य होने के कारण इन्हें "हिज़ होलिनेस" की उपाधि से सम्बोधित किया जाता है। इनकी धार्मिक प्रतिभा के साथ औद्योगिक विकास करने की शक्ति को देख कर ही सरकार ने सन् १६३६ में इन्हें "सर" की उपाधि से विभूषित किया था। राधास्वामी

सत्संगी इनको श्री साहेबजी महाराज कहते थे अतएव इनका पूरा नाम हिज़ होलिनेस श्री साहेबजी महाराज सर आनन्दस्वरूप था

सर आनन्दस्वरूप का दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था। वह आत्मा को झूठे आडम्बरों में बँधा हुआ पक्षी नहीं मानते थे। छूआछूत, बाल-विवाह, विधवा का विवाह न करना, खान-पान में परहेज़ इत्यादि से उनको ज़रा भी सहानुभूति न थी। वह धर्म को आत्मा की ही नहीं, शरीर, समाज तथा देश की वस्तु मानते थे और उससे प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक भावना को अनुप्राणित करना चाहते थे। एकान्त में सन्यास लेकर भजन करना वह बुरा नहीं समझते थे पर जागृत समाज में हरएक का एकान्त भजन तथा सन्यास-ग्रहण उनके लिये कल्पना की वस्तु थी। वह चाहते थे कि समाज का हरएक प्राणी क्रियाशील हो। संसार में रहकर, उसके सुख-दुःख का उपभोग करता हुआ उसके साधनों से लाभ उठाये और आलस्य तथा तन्द्रा को वैसी ही घृणा की दृष्टि से देखे जैसी घृणा पाप तथा व्यभिचार से की जाती है। गीता के कर्मयोगी भाष्य को वह मानते थे और उनकी यह प्रिय उक्ति थी कि "दार्शनिकों को सम्राट् तथा सम्राट् को दार्शनिक होना चाहिये।" प्लेटो की इस उक्ति का स्पष्ट अर्थ यही है कि संसार के हरएक क्षेत्र में दार्शनिकता का साम्राज्य होना चाहिये।

साहेबजी की राजनैतिक दृष्टि भी पर्य्याप्त रूपेण तीव्र थी। वह यह देख रहे थे कि देश गरीब और कंगाल है। उद्योग-धन्धों के विकास से ही वह जी सकता है। राजनैतिक स्वाधीनता के लिये काम करने वाले अनेक व्यक्ति और दल थे। पर, ठोस और रचनात्मक कार्य करने वालों की कमी थी। रचनात्मक कार्य में सरकारी सहयोग भी अनुचित नहीं समझा जाता। इसीलिये, साहेबजी ने धर्म-भाव

से प्रेरित अपने भक्तों का एक उपनिवेश बसाया जो दयालबाग़ कहलाता है। इसमें ठोस रचनात्मक कार्य तथा धार्मिक उपदेश दोनों ही होता रहा। सरकार से सहायता लेने में भी उन्हें संकोच न था। पर, इसका कारण था। इस कारण के तह तक न पहुंच सकने के कारण ही बहुत से धार्मिक नेता उनको तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे तथा राजनीतिज्ञ उन्हें 'सरकार का पिट्ठू' कहते थे। पर, साहबजी को अपनी आलोचना की ज़रा भी परवाह न थी। वह कभी भी निन्दा-स्तुति के क़ायल न थे। उन्होंने अपनी लगन और धुन से लाखों आत्माओं को मानसिक शान्ति दी, देश का करोड़ों रुपया विलायत जाने से रोका, स्वदेशी चीज़ों की तादाद बढ़ी और हज़ारों प्राणियों की जीविका चली। कुछ पंक्तियों में यह बातें लिख देना तो सरल है --पर इनकी महत्ता का अनुमान कम ही लोग लगा सकते हैं।

दयालबाग़ के विकास के विषय में या सर आनन्दस्वरूप की जीवन-घटनाओं के विषय में अधिक लिखने के लिये हमारे पास स्थान का अभाव है अन्यथा उनके जीवन की कहानी बड़ी रोचक और उपदेश-पूर्ण है। आज के ६६ वर्ष पहले, राधास्वामी मत के आचार्य स्वामी दयालसिंह सेठ ने भविष्यवाणी की थी कि आगरा-दीवानी के पीछे नहर से लेकर यमुना नदी के पोइया घाट तक राधास्वामी दयाल का नगर बसेगा-- उस दूरदर्शी की वाणी सर आनन्दस्वरूप ने, आगरा नगर से १ मील दूर, उसी स्थान पर, एक शहतूत का पेड़ लगाकर सन् १६१५ में पूरी की --दयालबाग़ की नीव पड़ी जो आज हमारे प्रान्त की उच्चतम संस्था है।

साहबजी को अपनी संस्था के अतिरिक्त देश की अनेक संस्थाओं में योगदान देना पड़ता था। यू.पी. बोर्ड आव् इण्डस्ट्रीज़, हाकोर्ट

बटलर इस्टीट्यूट, आगरा यूनिवर्सिटी सिनेट, हिन्दुस्तानी एकेडमी आदि के वह मेम्बर थे। यू. पी. एडूकेटेड अनइम्प्लॉयमेण्ट कमेटी (युक्तप्रान्तीय शिक्षित बेकारों की दशा जाँच करने वाली समिति) तथा शिक्षा संगठन-कमेटी के भी वह उपयोगी सदस्य रह चुके हैं। सार्वजनिक कार्यों में व्यस्त रहने पर भी वह लिखने-पढ़ने तथा अपने दैनिक कार्य-क्रम में ज़रा भी कमज़ोरी न आने देते। आध्यात्मिक गुत्थियों को ऐसी भाषा में समझाते थे कि श्रोता मुग्ध हो जाता था। उसकी शंका का पूरा समाधान हो जाता था। लिखने की भाषा भी बड़ी सरल होती थी। सब लोग समझ सकते थे। इनका लिखा "यथार्थ-प्रकाश" ग्रन्थ पठनीय है।

काम-क्रोध-लोभ पर वह विजय प्राप्त कर चुके थे—अतएव स्वभाव की सरलता तथा कोमलता के विषय में कुछ लिखना ही अनावश्यक है। यह हो सकता है कि उनके कतिपय राजनैतिक विचार से अथवा धर्म की परिभाषा या परिपाटी से हम पूर्णतः सहमत न हों—पर, इससे व्यक्ति की महत्ता, उसकी विशालता या गम्भीरता में अन्तर नहीं होता। हरएक प्राणी की अपनी अलग-अलग रुचि और प्रेरणा होती है। जिसकी रुचि तथा प्रेरणा का पूरक जहाँ प्राप्त हो जाता है, वही उसका गुरु तथा नेता होता है।

वह कवि भी थे। उनकी कविता में एक परम ईश्वर प्रेमी के हृदय की प्यास तथा एक ज्ञानी की प्रकाशमय वाणी का आनन्द मिलता है। उनकी कुछ पंक्तियाँ देखिये:—

(१)

साईं तुम्हरे दरस बिन, अँगना नाहिं सुहाय।
घर के सब बैरी लगैं, घर खावन को धाय॥

(२)

मानुष तन जिन पायकर, करी न कछु तदबीर।
रहे दुःखी संसार में, मर मर धरें शरीर॥

(३)

सन्त नहिं देखें बोल औ चाल,
सन्त इक देखें अन्तर हाल।
दया धर जग में देह धारें,
प्रीतिवश काज करें सारे॥

जीवन का प्रत्येक क्षण काम में लाने के कारण शरीर की नश्वर शक्तियाँ क्षीण होती ही हैं। सर आनन्दस्वरूप का भी स्वास्थ्य गिरने लगा। स्वास्थ्य-लाभ के लिये मद्रास गये थे। समुद्र-तट पर, २३ जून, सन् १९३७ को इनका देहान्त हुआ। मरने के समय भी सब को अपनी जिम्मेदारी निभाने तथा कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा देते रहे।

आज उनके स्थान पर, श्री गुरुचरनदास मेहता आसीन हैं और वह भी अच्छे फ़क़ीर, उदार तथा स्नेहशील गुरु हैं। उनके नेतृत्व में भी दयालबाग़ का उज्ज्वल भविष्य निश्चित है।

पं० मदनमोहन मालवीय

विशाल, भव्य तथा सुदृढ़रूप से संगठित बनारस में स्थापित हिन्दू विश्वविद्यालय भारत में सर्व-प्रधान विश्वविद्यालय अथवा यूनिवर्सिटी है और संसार की प्रमुख यूनिवर्सिटियों में इसकी गणना होती है। इस महान् यूनिवर्सिटी की एक-एक दीवाल पं० मदनमोहन मालवीय की कीर्त्ति-पताका है—उसकी हरएक ईंट से उनका गौरव-गान सुनाई पड़ रहा है। सन् १६१६ में हिन्दू सभ्यता तथा धर्म के इस सजीव उदाहरण को, विद्या के इस पवित्र मन्दिर को स्थापित कर पं० मदनमोहन मालवीय ने अद्भुत् कार्य किया है। वह अमर हैं। खेद की बात है कि इधर कुछ समय से उन्होंने अपने प्रिय विश्वविद्यालय का काम देखना बन्द कर दिया है और बीस वर्ष तक वाइस-चान्सलर रहने के बाद अपना कार्य सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जैसे धुरन्धर विद्वान् के हाथों सौंप, विश्राम कर रहे हैं। उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था, अतएव डाक्टरों ने उन्हें विश्राम लेने के लिये बाध्य किया। पर, महामना मालवीय के ऐसा कर्मवीर व्यक्ति शान्त और चुप नहीं रह सकता। वह अब भी विश्वविद्यालय के हित की बात सोचा और किया करते हैं और उन्हें विश्राम से कष्ट होता है।

महामना मालवीय हमारे देश की—संसार की—विभूति हैं। वह हिन्दू सभ्यता के सजीव प्रमाण हैं। सनातन धर्म की प्रकट व्याख्या है। भगवद्भक्ति की प्रतिमा हैं। जब वह गले में माला डाले, हरिकीर्त्तन में मस्त होकर झूमने लगते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर्ग से कोई देवता उत्तर आया हो। एक ओर वह कट्टर सनातनी

है, दूसरी ओर वह महान् देशभक्त भी हैं। सन् १६३० तथा १६३३ में—दो बार वह जेल भी हो आये हैं। हरिजन आन्दोलन में छूआछूत का भेद मिटाने में वह महात्मा गान्धी के साथ हैं और शास्त्रों द्वारा उन्होंने प्रमाणित कर दिया है कि हमारे यहाँ 'अछूत' का कभी कोई प्रश्न ही न था। सामाजिक सुधार के वह पक्षपाती हैं पर बाल-विवाह ऐसी बुरी प्रथा को रोकने के लिये सरकारी क़ानून बनाने के विरुद्ध हैं।

मालवीयजी हिन्दू संगठन के कट्टर समर्थक हैं। उनका विश्वास है कि जब तक हिन्दू अपने पैरों पर खड़ा होना न सीखेंगे, उनका उद्धार न होगा। उनकी इस भावना का लोग ग़लत अर्थ लगाते हैं और उनको कट्टर सम्प्रदायवादी कहते हैं। पर यह सोचना भूल है। महामना मालवीय के दिल में हिन्दू-मुसलमान-ईसाई सब के लिये बराबर दर्द है और वह सब का संगठन चाहते हैं—पर, एक हिन्दू होने के नाते उनको हिन्दुओं की कमज़ोरियाँ बहुत कुछ मालूम हैं, इसलिये उनके विषय में वह अधिकारपूर्वक ध्यान आकर्षित कर सकते हैं। हिन्दू महासभा की उन्होंने बड़ी सेवा की है। १६२४-३० तक उसको बहुत आगे बढ़ाया। और वर्षों तक उसके सभापति रहे हैं।

इस प्रकार महामना मालवीय धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक तीनों क्षेत्रों में नेता के रूप में अपना निरालापन रखते हैं, तीनों परिस्थितियों का अद्भुत् रूपेण सामञ्जस्य कर, बड़ी सावधानी से आगे बढ़ते हैं। क्रान्तिकारी परिवर्त्तन के स्थान पर क्रमागत विकास उन्हें अधिक पसन्द हैं। रचनात्मक तथा वैध-कार्य, सरकार से सहयोग करते हुए भी स्वराज्य-प्राप्ति का उपाय करना उन्हें देश के लिये कल्याणकारी मालूम होता है। साथ ही, अपने हिन्दू विश्वविद्यालय के हित-अहित का ध्यान रखना भी उनके लिये आवश्यक है। ऐसी परिस्थिति में, यह कहना

ोगा कि महामना मालवीय के विषय में ग़लतफ़
ग बात है। संसार में महामना मालवीय जी ऐसे
र में इतनी अधिक ग़लत धारणाओं का दूसरा उद
हीं है।

पं० मदनमोहन मालवीय

था बड़ी मधुर होती है। उन्होंने परिश्रम करके, अ
व्याख्यान-शैली को बनाया है। भाषण देने की
स्टन का अनुकरण किया है। ग्लैडस्टन से ही लि
इ उन्होंने ग्रहण की है। हिन्दी तथा अंग्रेज़ी, दोनों भ
भारत के सर्व-श्रेष्ठ वक्ता हैं। उनके बाद मा

प० श्रीनिवास शास्त्री का नम्बर आता है यह सत्य है कि श्रीमती ऐनी बेसेण्ट महामना मालवीय से भी अच्छा अंग्रेज़ी व्याख्यान देती थीं। महामना मालवीय बोलने तथा लिखने, दोनों कार्यों में, शब्दों का चुनाव बड़ी सावधानी से करते हैं। शब्द बड़े मीठे और अर्थ-युक्त होते हैं। उत्तेजना तो आने ही नहीं देते। भावुक इतने हैं कि कारुणिक कहानी कहते-कहते स्वयं रो पड़ते हैं और सुनने वाले भी रोने लगते हैं।

आचार-विचार के बड़े पक्के हैं। इस बुढ़ापे में भी, जब कि शरीर जर्ज्जर और अशक्त हो रहा है, दोनों समय स्नान-ध्यान-पूजा-पाठ करते हैं और घोर जाड़े में भी वस्त्र उतार कर भोजन करते हैं। स्वभाव के बड़े सरल, दयावान, मृदुल तथा बालकों से बड़ा स्नेह करने वाले हैं। काशी विश्वविद्यालय के विद्यार्थी इनको पिता के समान पूजते हैं।

मालवीय जी का जीवन बहुत ही क्रियाशील और द्रुतगामी रहा है। राजनीति में उनका साथ बड़ी जल्दी बनता और बिगड़ता था। कुछ समय तक पं० मोतीलाल नेहरू से घोर विरोध हो गया था। पं० मोतीलाल नेहरू कौंसिलों में जा कर उनको तोड़ देना चाहते थे और महामना मालवीय कौंसिलों में प्रवेश कर उपयोगी काम करना चाहते थे। फलतः जब वह पं० मोतीलाल नेहरू के साथ, केन्द्रीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के मेम्बर हुए तब उन्होंने लाला लाजपतराय के साथ "राष्ट्रीय-दल" के नाम से अपना अलग दल बनाया और पण्डित मोतीलाल नेहरू स्वराज्य पार्टी के नेता बने। पर, यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि राजनैतिक विरोध होने पर भी, महामना मालवीय अपने साथियों तथा मित्रों से सच्चा प्रेम करते थे और करते हैं। उनके

मन में राग तथा द्वेष छू तक नहीं गया है। जी से, जान से, जितना हो सकता है, अपने आश्रितों, मित्रों तथा साथियों की सहायता करते हैं और राजनैतिक तथा पारस्परिक-सम्बन्ध को सदैव पृथक् रखते हैं।

महामना मालवीय ऐसे महान् व्यक्ति की जीवनी पर किञ्चित् भी प्रकाश डालने के लिये उनसे बहुत घने परिचय की आवश्यकता है। यह काम हरएक नहीं कर सकता। हम तो उनके जीवन को देख कर एक श्लोक याद कर लेते हैं :—

प्रत्यूह व्याल शिखिनः, सत्यव्रत परायण।
परार्थं जन्म येषां ते, सन्तास्सन्ति सुदुर्लभः॥

अर्थात् ऐसे सत्यव्रत-परायण तथा दूसरों के लिये जन्म लेने वाले सन्त का मिलना कठिन है और धन्य है वह देश जहाँ ऐसे सन्त उत्पन्न हुए और होते हों।

अस्तु, २५ दिसम्बर १८६१ को मदनमोहन मालवीय का जन्म प्रयाग (इलाहाबाद) में हुआ था। वहीं म्योर सेण्ट्रल कालेज में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की और सन् १८८४ में बी. ए. की परीक्षा पास की। उसी समय इनको इलाहाबाद के सरकारी हाई स्कूल में अध्यापक की नौकरी मिल गयी और सन् १८८७ तक वह पढ़ाने का काम करते रहे। इसी बीच में वह "हिन्दुस्तान" तथा "इण्डियन यूनियन" नामक पत्रों का सम्पादन भी करते रहे। इस प्रकार, एक विश्वविद्यालय स्थापित करने वाले महापुरुष को अध्यापन के कार्य का अनुभव प्राप्त हुआ और भारत की परिस्थिति पर सैकड़ों लेख तथा व्याख्यान लिखने से पत्रकार-जगत का भी अनुभव प्राप्त होता रहा।

सन् १८९१ में उन्होंने वकालत की परीक्षा पास की और सन् १८९३ से इलाहाबाद हाईकोर्ट में वकालत करने लगे। इनकी वाक्-शक्ति तथा तर्क-शक्ति से जज लोग बहुत प्रभावित होते थे। यदि आप अधिक

काल तक वकालत करते रहते तो यथेष्ट द्रव्य कमाते और बहुत नामी वकील हो जाते पर महात्मा गोखले उन दिनों भारत को जाग्रत कर रहे थे उन्होंने महामना मालवीय की प्रतिभा को तुरत पहचान लिया और देश-सेवा के क्षेत्र में उनको आमंत्रित किया। वकालत को देश-सेवा के कार्य में बाधक समझ कर पं० मदनमोहन मालवीय ने शीघ्र ही उससे पीछा छुड़ाया और देश के लिये फ़कीर बन बैठे।

सन् १९०२ में ही वह हमारे सूबे की पुरानी कौंसिल के मेम्बर हुए और सन् १९१२ तक बराबर उसके मेम्बर बने रहे। पर, इनकी व्याख्यान शक्ति, आलोचना-शक्ति और घोर अध्ययन का पता तो तब सब को—विशेष कर भारत सरकार को मिला—जब वह वाइसराय की इम्पीरियल कौंसिल के मेम्बर हुए और लगातार नौ वर्ष तक अर्थात् १९१९ तक इम्पीरियल कौंसिल के सदस्य बने रहे। जब जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड हुआ तो उन्होंने अमृतसर जाकर भारतीयों की दुर्दशा का दृश्य स्वयं देखा और उस पर बड़ा ज़ोरदार बयान प्रकाशित किया। "रौलट ऐक्ट" के बनते ही विरोध-स्वरूप कौंसिल की सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया। इसके बाद, पण्डित मोतीलाल नेहरू के कौंसिल प्रवेश के समय महामना मालवीय ने पुनः केन्द्रीय कौंसिल में प्रवेश किया।

द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन के अवसर पर महात्मा गान्धी के साथ वह लन्दन भी गये थे और उसी समय यूरोप की भी यात्रा की। इस यात्रा में उन्होंने कहीं भी विलायत का जल नहीं पीया। उनके लिये बनारस से गङ्गाजल भेजा जाता था और स्वयं अपने साथ भी वह यह पवित्र जल ले गये थे।

कांग्रेस की सेवा वह तीस-पैंतीस वर्षों से कर रहे हैं। सन् १९०७ में सूरत की कांग्रेस में बड़ा मत-भेद उत्पन्न हो गया था। कांग्रेस छिन्न-भिन्न हो जाने वाली थी। पर, सन् १९०८ की २४ वीं कांग्रेस अर्थात् लाहौर अधिवेशन के सभापति पं० मदनमोहन मालवीय की आकर्षित करने वाली शक्ति तथा प्रतिभा के कारण ही कांग्रेस अधिवेशन बहुत सफल रहा और उसकी शक्ति दृढ़ हो गयी। सन १९१८ में कांग्रेस के ३३ वें अधिवेशन (दिल्ली) के सभापति मालवीय जी ही थे और उसी अधिवेशन के समय से ही कांग्रेस की कार्य-प्रणाली बदल गयी।

सन् १९१६-१९१९ तक महामना मालवीय इण्डियन इण्डस्ट्रियल कमीशन के सदस्य रहे। उस समय इन्होंने कमीशन के बहुमत के विरुद्ध अपनी रिपोर्ट लिखा था। उसे पढ़ने से स्पष्टतः ज्ञात हो जावेगा कि महामना मालवीय को देश की औद्योगिक स्थिति का कितना अच्छा ज्ञान है। हमारे औद्योगिक-विकास की चिन्ता के कारण ही उन्होंने काशी विश्वविद्यालय में इञ्जीनियरिंग कालेज भी खोल दिया है जो भारतवर्ष में सर्व-श्रेष्ठ इञ्जीनियरिंग कालेज है।

तीन वर्ष पूर्व महामना मालवीय बहुत अधिक बीमार हो गये थे। आयुर्वेदिक चिकित्सा से स्वास्थ्य में बहुत अधिक सुधार भी हुआ। किन्तु, अधिक उम्र, कठिन परिश्रम एवं चिन्ताओं के भार से वह अब दुर्बल हो गये हैं। ईश्वर उन्हें शक्ति दे कि वह हमको और अधिक वर्षों तक सन्मार्ग दिखा सकें।

श्री पुरुषोत्तम दास टण्डन

संयुक्त प्रान्तीय लेजिस्लेटिव असेम्बली के अध्यक्ष (स्पीकर) ऑन० श्री पुरुषोत्तम दास टण्डन का नाम कौन नहीं जानता। ६० वर्ष के ऊपर उम्र हो चली, स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, फिर भी रात-दिन काम में लगे ही रहते है। आजकल के अधिकांश युवक भी उनकी तरह काम नहीं कर सकते।

स्वभाव के बहुत ही सरल —बालकों के समान विनोदी एवं प्रसन्न, मित्रों तथा अतिथियों की हर तरह से देख-भाल करने वाले पुरुषोत्तम दास टण्डन किसका मन न मोहित कर लेंगे।

अगर वह चाहते तो बड़े आराम से वकालत करते होते। इलाहाबाद में सन् १९२० तक बड़ी शान तथा आमदनी के साथ वकालत करते रहे। पर, महात्मा गांधी की आज्ञा से उस पेशे को छोड़ दिया और तब से देश-सेवा ही उनका एक मात्र व्रत है।

बड़े नियमित रूप से काम करने वाले हैं। कोई काम दूसरों पर नहीं छोड़ते। जब कभी किसी संगठन, निर्माण अथवा रचना का काम अपने हाथ में लिया उसे पूरा किया। कभी भी कोई यह शिकायत नहीं कर सकता कि पुरुषोत्तमदास टण्डन उनका काम भूल गये।

आज हिन्दी साहित्य सम्मेलन इतनी महान तथा आदरणीय संस्था है। पर, यह सभी जानते हैं कि उसकी वर्त्तमान महत्ता का श्रेय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन ही को है। आज से बीस वर्ष पहले, सम्वत् १९६७ में सम्मेलन का पहला अधिवेशन काशी में हुआ था। महामना मालवीय उसके पहले सभापति थे। श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन संस्था के

: थे तब से अब तक लगातार वह सम्मेलन की सेवा
लेये जी-जान से प्रयत्न कर रहे हैं। अदालतों में हि
ग तथा बड़े-से-बड़े महत्त्वपूर्ण अवसरों पर हिन्दी
ान्दोलन पुरुषोत्तमदास टण्डन ने ही शुरू किया
न्दोलन में प्रमुख भाग लेने वालों में से थे। असेम्ब
के पश्चात् उन्होंने यह आज्ञा दी थी कि जो चाहे हि

श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन

सकता है—अपनी बात कह सकता है। साहित्य सम्मे
शन के आपही सभापति भी थे।
के बाद कुछ वर्षों तक पञ्जाब नैशनल बैंक के सेक्रे
ों वह लाहौर में रहते थे। इसके अतिरिक्त दो दे
काम कर चुके हैं। सन् १९२४ में वह लाला लाज

राय द्वारा स्थापित सर्वेण्टस आव पीपुल्स सोसाइटी (जन सेवक समिति) मे सम्मिलित हो गये बैंक की अच्छी नौकरी और मोटी तनख्वाह का उन्हे मोह न था वह तो देश प्रेम के ही भूखे थे लाला लाजपतराय की यह संस्था देश-प्रेमियों को एकत्रित कर, समुचित रूप से देशसेवा के कार्य के लिये ही स्थापित हुई थी। आप इसी आदर्श संस्था में शामिल हो गये। लाला लाजपत राय की मृत्यु के बाद वह ही इस संस्था के अध्यक्ष हुए तथा आज तक बड़ी दक्षता और योग्यता के साथ इस कार्य का सञ्चालन कर रहे हैं।

असेम्बली के अध्यक्ष के रूप में, यह प्रसिद्ध हो गया है कि वह बड़े निष्पक्ष तथा कठोर नियमों के अनुयायी हैं। वह क़ायदे-क़ानून की पाबन्दी में ज़रा भी रियायत नहीं करते। भारत की सभी व्यवस्थापक सभाओं को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि युक्त प्रान्त का अध्यक्ष सब से गुणी और योग्य व्यक्ति है।

श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन कठोर तथा योग्य शासक भी हैं। वर्षों तक वह इलाहाबाद म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन रह चुके हैं। इनके सुन्दर शासन के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये ही इलाहाबाद के नागरिकों ने "श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन पार्क" नामक एक अच्छा पार्क वहां बनवा दिया है जहाँ पर सार्वजनिक सभायें आदि होती हैं।

किसानों के वह प्राण हैं। सन् १९२८-३१ तक तथा इधर कई वर्षों से जी-तोड़ परिश्रम कर वह किसानों की सेवा कर रहे हैं। जेल-यात्रा भी कई बार कर चुके हैं। कांग्रेस तथा महात्मा गांधी के अनन्य भक्त हैं।

टण्डन जैसे सच्चे सहायक, देशभक्त तथा तपस्वी कार्यकर्त्ता कम मिलेंगे। उनकी ऐसी धुन का काम करने वाला व्यक्ति सदैव पूजित और आदरित होता है। वह प्रत्येक भारतीय के लिये आदर्श व्यक्ति हैं।

पं० मोतीलाल नेहरू

देश-प्राण महात्मा गान्धी ने पं० मोतीलाल नेहरू की मृत्यु पर कहा था—"मैं विधवा हो गया।" उनकी अर्थी को कन्धे पर रख कर महात्मा गान्धी मकान से बाहर आये थे। महात्मा गान्धी पं० मोतीलाल नेहरू को अपना दाहिना हाथ समझते थे। पं० मोतीलाल नेहरू विशेष धर्म-प्रेमी न थे। उनके पुत्र पं० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, उनके घर की "स्त्रियाँ ही कुछ पूजा-पाठ करती थीं और हम लोग धर्म को औरतों की चीज़ समझा करते थे।" जो हो, पं० मोतीलाल नेहरू ईश्वर और सत्य के पुजारी थे, पर बाहरी धार्मिक आडम्बरों से उनको कोई सरोकार न था। इसीलिये वह महात्मा गान्धी को "महात्मा" के रूप में नहीं, राजनैतिक पण्डित और 'देश' के नेता के रूप में पूजते थे। महात्मा गान्धी यह जानते थे और वह यह भी जानते थे कि उनके अनेकों सिद्धान्तों से पण्डित मोतीलाल नेहरू का विरोध है; फिर भी, बिना मोतीलाल नेहरू की सहायता के देश का कार्य करना उनके लिये कठिन था। वह इतने महान् व्यक्ति थे ही—इसीलिये महात्मा गान्धी ने, उनकी मृत्यु पर, दुःख से पागल होकर कहा था—"मैं विधवा हो गया।"

पण्डित मोतीलाक नेहरू हर तरह से निराले थे—अद्भुत थे—उनका ऐसा व्यक्तित्व था जो छिप नहीं सकता था; ऐसी प्रतिभा थी जो दबी नहीं रह सकती थी और ऐसी प्रखरता थी जिसका कोई उत्तर न था। सुन्दर, एवं रोबीला चेहरा और गठा हुआ शरीर, दूध-सा धुला खद्दर—पण्डित जी का आकर्षित करने वाला व्यक्तित्व अन्तिम

समय तक ज्यों का त्यों बना रहा उनके सामने जो आया, वह बिना प्रभावित हुए नहीं रहा।

वह राजर्षि थे। अपनी वकालत और उसकी बहुत बड़ी आमदनी के दिनों में उन्हों ने सम्राटों से भी अधिक सुख और ऐश्वर्य भोगा था। पाश्चात्य सभ्यता और वेष-भूषा उन्हें बड़ी प्रिय थी। इनका महल किसी बड़े सम्राट् के महल से कम सजा हुआ न था। उन्होंने सचमुच "राज-सुख" से कहीं ऊँचा सुख भोगा था। पर, जब देश-सेवा की पुकार कानों तक पहुँची और उनके एकमात्र तथा लाड़ले पुत्र पं० जवाहरलाल नेहरू देश-सेवा का व्रत लेने जा रहे थे— जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड की सन् १९१९ में महात्मा गान्धी के साथ मिलकर जाँच करने के बाद, पण्डितजी ने भी अपना सर्वस्व त्याग दिया, सुख-भोग पर लात मार खद्दर धारण कर लिया तथा अपने देशहित के लिये भिखारी हो गये। उनका "आनन्द भवन" आज "स्वराज्य भवन" है और इसी में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का प्रधान कार्यालय है। आनन्द भवन के बगल में एक दूसरा बंगला पं० जवाहरलाल नेहरू के लिये बन गया है।

पण्डित मोतीलाल नेहरू ने जैसी आराम की ज़िन्दगी बिताने के पश्चात् जैसा तपस्यामय जीवन रखा, वैसा उदाहरण संसार में कम मिलेगा। उनकी धर्मपत्नी स्वरूप रानी तथा उनकी पुत्रवधू (पं० जवाहर लाल की पत्नी) श्रीमती कमला नेहरू, उनकी पुत्री श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित इत्यादि सभी ने खद्दर को अपनाया और देश-सेवा की, जेल यात्री बनीं। पं० मोतीलाल नेहरू तीन बार जेल गये और अन्तिम बार सन् १९३० में जेल-यात्रा की। उस समय इनकी उम्र सत्तर वर्ष की थी और दमा ने शरीर को जर्जर कर रखा था। फिर भी जेल गये

हुत अधिक बीमार हो गये और ऐसा मालूम
दिये जावें तो आपने वाइसराय को तार देकर
अनुरोध किया। पर, उनकी गहरी बीमारी के
जेल से छोड़ दिये गये।

पं० मोतीलाल नेहरू

ात ज्यों ही घर आये और चिकित्सा का नवीन क्र
रहा था कि पं० जवाहरलाल नेहरू की पाँचवीं बा
नम्बर आ गया और वह जेल चले गये। उनके
मोतीलाल नेहरू की हालत अधिक संगीन हो
ने लगा, चिकित्सा के लिये विलायत या कल

भी न जा सके और ६ फरवरी, १९३१ को लखनऊ में देहान्त हो गया। मृत्यु के कई दिनों पहले महात्मा गान्धी उनके पास आ गये थे। पं० जवाहरलाल नेहरू भी छूट आये थे और अन्यान्य नेतागण भी सेवा-सुश्रूषा में लगे रहते थे। इन दिनों जो लोग पण्डित जी के निकट रहने का सौभाग्य प्राप्त कर चुके हैं वे जानते हैं कि इतनी गहरी बीमारी में भी पण्डित जी अपने घरके मेहमानों के आराम और तकलीफ़ की खोज-खबर रखते थे और श्रीमती कमला नेहरू को सचेत करते रहते थे कि किसी को कुछ कष्ट न होने पाये।

बच्चों की तरह मिलनसार, स्नेही, दयालु इत्यादि होते हुए भी उनके स्वभाव में एक राजसीपन था जो उनकी अपनी ख़ास चीज़ थी तथा जिसके कारण लोग अनायास उनसे डरते भी थे। जो काम गवर्नर या वाइसराय के कहने से न होता था, वह पण्डितजी के कहने से हो जाता था। लोग उनसे बहुत भय खाते थे-- साथ ही यह भी जानते थे कि वह अन्यायपूर्ण, ग़लत या अनुचित बात कभी न कहेंगे। स्वामी सत्यदेव को विलायत जाना था। संयुक्त प्रान्त तथा पञ्जाब की सरकार ने आज्ञा देना अस्वीकार कर दिया था। वह पण्डितजी की शरण में आये – उनके पास से खाली हाथ लौटना असम्भव था। दो गवर्नरों की बात टल गयी---पण्डितजी की बात रह गयी और सेण्ट्रल गवर्नमेण्ट से पास-पोर्ट (सम्मति पत्र) मिल गया।

उनके विषय में, उन्हीं के पुत्र पं० जवाहरलाल नेहरू का कथन है— "उनमें व्यक्तित्व की शक्ति थी तथा एक मात्रा में राजसी-पन भी था। वह जहां कहीं बैठते थे, अपनी ओर सबका ध्यान आकर्षित कर लेते थे और एक प्रमुख न्यायाधीश के शब्दों में, वह मेज़ के जिस किसी भाग में भी बैठते थे, वहीं केन्द्र हो जाता था और सब लोग उसी

स्थान को आप से आप प्रधान स्थान मान लेते थ दब कर या नम्र बन कर रहने की उनमे आदत ही न थी। वह यह जानते थे कि उनमें अधिकारशील प्रवृत्ति है और इसी प्रवृत्ति के द्वारा या तो वह अपने सम्पर्क में आने वालों का अभिवादन और अनुकरण तथा आज्ञापालन प्राप्त करते अथवा फिर उनको अपना विरोधी ही बना लेते थे। उनके विषय में तटस्थ भाव रखना असम्भव था—उनसे प्रेम कीजिये और नहीं तो घृणा कीजिये।"

ऊपर लिखी पंक्तियों में पं० मोतीलाल नेहरू के स्वभाव का बड़ी अच्छी तरह से परिचय करा दिया गया है। पण्डितजी बड़े साहसी और धुन के पक्के व्यक्ति थे। अपनी बीस वर्ष से अधिक की वकालत में उन्होंने हाईकोर्ट के किसी न्यायाधीश से दबना सीखा ही नहीं। बड़े-बड़े न्यायाधीश आये और इनका लोहा मानकर चले गये। सभी इनकी क़द्र करते थे। बहस करने की शक्ति इतनी अच्छी थी कि अपने मवक्किल का मामला न्यायाधीश के सामने आइने की तरह से रख देते थे। मस्विदा इतना अच्छा तय्यार करते थे कि उसमें नुक्ता निकालना मुश्किल था। इनकी शान का दूसरा वकील मिलना मुश्किल है -अपने ज़माने के वह सबसे बड़े वकील थे। केवल एक व्यक्ति और थे जो इनके समान प्रतिभाशाली वकील कहा जा सकते हैं—वह थे कलकत्ता के श्री चित्तरञ्जनदास जिन्हें हम देशबन्धु सी आर. दास के नाम से भली प्रकार जानते हैं। दास और नेहरूजी की बड़ी मित्रता थी और राजनीति में दोनों का विचार समान था और समान-रूप से काम करते थे।

राजनैतिक दृष्टि से पं० मोतीलाल नेहरू न तो क्रान्तिकारी थे और न तो महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन में उनको पूरा विश्वास

था। वह खद्दर के महत्त्व के भी उतने क़ायल न थे, पर राजनैतिक एकता के लिये उन्होंने असहयोग भी किया, खद्दर सदैव पहना। वह तथा सी. आर. दास कानून के महान् पण्डित तथा शासन-विधान के धुरन्धर विद्वान् थे। वे कौंसिलों में प्रवेशकर अड़ङ्गा-नीति से सरकार के साथ असहयोग करना चाहते थे। इसीलिये, पं० मोतीलाल नेहरू ने देशबन्धु सी.आर. दास के साथ मिलकर "स्वराज्य पार्टी" की रचना की जिसका उद्देश्य था कांग्रेस के अन्तर्गत रहते हुए, कौंसिलों में प्रवेश कर, वहीं से अपना आन्दोलन चलाना। सन् १९२२ में, गया कांग्रेस में, जिसके सभापति देशबन्धु सी.आर. दास थे—चेष्टा की गयी कि कौंसिल-प्रवेश का प्रस्ताव कांग्रेस स्वीकार कर ले। उन दिनों महात्मा गांधी जेल में थे। गांधी-भक्तों ने, महात्मा गांधी की अनुपस्थित में ऐसा प्रस्ताव पास करना उनके प्रति विश्वासघात समझा। पर, प्रस्ताव गिर जाने पर भी पण्डितजी ने तथा दास बाबू ने अपने अनुयायियों के साथ स्वराज्य-पार्टी की रचना की। सन् १९२३ में कांग्रेस के दिल्ली अधिवेशन में स्वराज्य-पार्टी को कांग्रेस के अन्तर्गत काम करने की स्वतंत्रता दे दी गयी और उसके बाद ही जो चुनाव हुआ उसमें केन्द्रीय कौंसिल में विट्ठलभाई पटेल, पं० मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय ऐसे महापुरुष पहुँचे। कौंसिलों में प्रवेश करते ही पण्डितजी सरकार-विरोधी पक्ष के नेता बन गये और उस समय उनकी प्रतिभा को खुल खेलने का अवसर मिला। जिन लोगों ने उस समय की—उन दिनों की केन्द्रीय कौंसिल की कार्यवाही देखा होगा वह जानते होंगे कि पण्डितजी का कितना प्रभाव था। उनकी आलोचनाओं से सभी घबराते थे और अधिकांश सरकारी सदस्य "उस बूढ़े पण्डित" से भय खाते थे। केन्द्रीय अर्थात् सेण्ट्रल असेम्बली में पं० मोतीलाल नेहरू

के कार्यों का इतना रोचक, इतना महत्त्वपूर्ण और अध्ययन के योग्य रिकार्ड है कि राजनीति के हरएक विद्यार्थी को उसका अध्ययन करना चाहिये।

पण्डितजी ने असेम्बली में कितनी योग्यता का परिचय दिया यह उन्हीं के पुत्र पं० जवाहरलाल नेहरू ने बड़े अच्छे ढंग से दर्शाया है। पं० जवारलाल नेहरू असेम्बली-प्रवेश के ही विरुद्ध थे अतएव उनकी राय पढ़ने योग्य है। वह लिखते हैं :—

"जिस तरह बत्तख़ पानी में बहुत ही आनन्द और सरलता पूर्वक तैरता है, उसी तरह मेरे पिता ने असेम्बली में काम शुरू कर दिया। उनकी कानूनी तथा शासन-विधान-सम्बन्धी शिक्षा के अनुकूल यह काम था। वह सत्याग्रह और उसकी बारीकियों से कम परिचित थे पर कौंसिल के खेल के हर पहलू से उनकी जानकारी थी। उन्होंने अपनी स्वराज्य पार्टी को बहुत कठोर शासन में रखा और अन्य मेम्बरों और पार्टियों से भी अपने दलका समर्थन प्राप्त कर लेते थे।"

पं० मोतीलाल नेहरू जिस युग में असेम्बली और कौंसिलों में काम कर रहे थे और अपने साथियों से—स्वराज्य पार्टी के मेम्बरों द्वारा जो आन्दोलन चला रहे थे, महात्मा गांधी की उसके प्रति कोई सहानुभूति न थी, पर वह पं० मोतीलाल नेहरू को इतना अधिक मानते थे और उन दोनों में आपस में इतना प्रेम था कि यह मित्रता भारत के लिये बड़ी कल्याण-जनक सिद्ध हुई। सन् १९२४ में महात्मा गांधी ने इस बात की चेष्टा भी की कि कांग्रेस की मेम्बरी उन्हीं को करने का अधिकार हो जो अपने हाथ से चरखा कातें और कुछ गज़ सूत कांग्रेस दफ्तर में जमा करें। नेहरू तथा दास (सी.आर. दास) दोनों ने इसका तीव्र विरोध किया और विरोध में सभा छोड़कर चले आये। इनके विरोध से

प्रभावित होकर महात्मा गांधी ने प्रस्ताव को वापस-सा ले लिया और दूसरे साल यह समझौता हुआ कि हाथ से कता हुआ सूत या चार आना पैसा साल देने वाला व्यक्ति मेम्बर हो सकता है।

यह हम ऊपर कह आये हैं कि पं० मोतीलाल महात्मा गांधी को महात्मा के रूप में नहीं, एक महान् व्यक्ति के रूप में मानते थे। वह स्वयं बड़े मज़बूत दिल के और स्वाभिमानी व्यक्ति थे और महात्मा गांधी की आत्म-शक्ति उन्हें आकर्षित करती थी। महात्मा गांधी भी पं० मोतीलाल नेहरू से दबते थे—उनका बड़ा सम्मान करते थे। सन् १६२४ में पं० मोतीलाल नेहरू की स्वराज्य-पार्टी और महात्मा गांधी की कौंसिल-प्रवेश-विरोधी पार्टी में काफ़ी खींचातानी चल रही थी। उस समय की एक रोचक कहानी पं० जवाहरलाल नेहरू बतलाते हैं। उन्होंने महात्मा गांधी को अपने पिता की एक तस्वीर दिखलाया जिसमें उनके मूँछें नहीं थी। इसके पहले महात्मा गांधी ने पं० मोतीलाल नेहरू को जब देखा था, उनके घनी-घनी गम्भीर मूँछे थीं। मूँछों के साफ़ हो जाने से चेहरे की ख़ूबसूरती और साथ ही कठोरता बढ़ गयी थी। बड़े गौर से उस चित्र को देख कर महात्मा गांधी ने कहा कि "अब मैंने समझा कि मुझे कितने बलवान व्यक्ति से लोहा लेना है!"

अस्तु, पं० मोतीलाल नेहरू के जीवन की कहानी और उसके रोचक पहलू बहुत अधिक हैं। उनके जीवन में सबसे महत्वपूर्ण घटना "नेहरू-कमेटी की रिपोर्ट" है। यह रिपोर्ट इतनी महत्व-पूर्ण है और इसने पण्डित मोतीलाल नेहरू का नाम इस महानता के साथ अमर कर दिया है कि कोई उनको भूल ही नहीं सकता।

सन् १६२७ के दिसम्बर में मद्रास में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था। उसके अध्यक्ष डा० अन्सारी थे। इस अधिवेशन में एक 'सर्व-

दल-सम्मेलन' की रचना की गयी जिसका उद्देश्य यह था कि सब प्रकार के राजनैतिक विचार वालों को एकत्रित कर उनके साथ मिल कर ऐसा मसविदा बनाया जावे जिसके अनुसार देश की हिन्दू-मुसलिम समस्या और भावी शासन-विधान और हिन्दुस्तान के योग्य शासन-प्रणाली तय कर ली जावे। इस प्रकार तय्यार की हुई चीज को सब लोग मिल कर सम्राट् की सरकार के सामने पेश करें। इस प्रकार सब राजनैतिक दलों में एकता हो जावेगी और मिलजुल कर काम होगा। इस संस्था के अध्यक्ष डा० अन्सारी चुने गये थे और उन्होंने बड़े परिश्रम से काम किया था। इस सम्मेलन ने अपना काम कमेटियों में बाँट दिया था और "भावी-शासन-विधान" का मसविदा बनाने का काम एक कमेटी के सुपुर्द हुआ। इसके सदस्यों में सर तेजबहादुर सप्रू का नाम उल्लेखनीय है। पं० मोतीलाल नेहरू इसके अध्यक्ष थे। अतएव यह कमेटी 'नेहरू कमेटी' के नाम से प्रसिद्ध हो गयी। इसकी रिपोर्ट सन् १६२८ में प्रकाशित हुई—एक ही साल में कमेटी ने अपनी जाँच भी कर ली और रिपोर्ट भी निकाल दी। इतना बड़ा काम पण्डित मोतीलाल नेहरू ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति का ही था और नेहरू रिपोर्ट इतनी अच्छी, इतनी ठोस और हरएक को प्रसन्न करने वाली थी कि उसकी सभी ओर से बड़ी प्रशंसा होने लगी। सब लोगों ने पण्डित मोतीलाल नेहरू की विद्या, पाण्डित्य और रचनात्मक काम करने और योजना बनाने की शक्ति का परिचय पा लिया। सारे देश में नेहरू रिपोर्ट की धूम मच गयी। पर, खेद इसी बात का है कि एक ऐसा विधान जिसको सभी अच्छा समझते हों, कुछ दिनों बाद ही न तो भारत को स्वीकार था और न भारत सरकार को।

सन् १६१६ के ३४ वें कांग्रेस अधिवेशन (अमृतसर) के सभापति प० मोतीलाल नेहरू थे और नेहरू कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद, १६२८ मे, कलकत्ता मे होने वाले ४३ व कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष भी पण्डितजी ही चुने गये। इस समय देश में उनके नाम की धूम मची हुई थी। कलकत्ता में उनका जैसा शानदार स्वागत हुआ वैसा आज तक भारत में किसी को अभी तक नसीब नहीं हुआ है। ३६ सफ़ेद घोड़ों से जुती हुई निहायत शानदार और खूबसूरत गाडी पर पण्डितजी बैठाये गये और उनका जुलूस निकाला गया। जुलूस के साथ एक लाख से अधिक व्यक्ति थे—दर्शकों की संख्या का कोई अनुमान नहीं बताया जा सकता।

पण्डितजी के व्यक्तित्व का परिचय कराते समय हम उस महान् व्यक्ति की महत्ता में इतना डूब गये थे कि हमें यह स्मरण ही न रहा कि उनकी जीवनी पर क्रम-बद्ध रूप से प्रकाश डालना है। इस छोटे से अध्याय में यह तो सम्भव नहीं है कि बहुत कुछ तो क्या थोड़ा-सा भी वर्णन दिया जा सके। उनकी जीवनी एक ऐसे बादशाह-फ़कीर की जीवनी है जो यदि संयुक्तराज्य अमेरिका में पैदा हुआ होता तो वहाँ का राष्ट्रपति होता या ब्रिटेन में प्रधान मंत्री होता। आज पण्डितजी नहीं हैं पर उनकी कीर्त्ति की पताका चारों ओर फहरा रही है।

वह काश्मीरी ब्राह्मण थे। हमारे प्रान्त में हज़ारों काश्मीरी ब्राह्मण रहते हैं। लगभग २०० वर्ष हुए, १८ वीं शताब्दि के प्रारम्भ मे, इनके पूर्वज धन कमाने के लिये गंगा के मैदान के प्रदेशों में आये थे। उन दिनों मुग़ल साम्राज्य का सूर्य अस्त हो रहा था। औरंगज़ेब के मरते ही, मुग़ल-शान का दीपक बुझ गया। फ़र्रुख़सियर गद्दी पर बैठे। एक बार बादशाह काश्मीर गये और

वहीं राज कौल नामक एक बड़े विद्वान् काश्मीरी पण्डित से इनका परिचय हुआ। कौल को फ़ारसी तथा संस्कृत दोनों का बड़ा अच्छा ज्ञान था। शायद बादशाह के कहने से ही पण्डित कौल सपरिवार दिल्ली चले आये। यह घटना लगभग सन् १७१६ की है। यहीं उन्हें जागीर मिली और इज़्ज़त भी। इनका मकान एक नहर के किनारे पर था इसलिये वह 'नहर के किनारे वाले' से 'नेहरू' कहलाने लगे। यही राज कौल हमारे प्रान्त के प्रसिद्ध नेहरू परिवार के पूर्वज हैं।

पण्डित मोतीलाल नेहरू के दादा पण्डित लक्ष्मीनारायण नेहरू ने मुग़ल बादशाह के दरबार में ईस्ट इंण्डिया कम्पनी की ओर से 'वकालत' की नौकरी कर ली और वह कम्पनी के पहले "सरकारी वकील" बने। इनके पुत्र पं० मोतीलाल के पिता गङ्गाधर नेहरू दिल्ली के कोतवाल थे। इन्हीं की कोतवाली के ज़माने में सन् १८५७ का ग़दर हुआ था। बड़ी मुश्किल से जान बचाकर, अपना परिवार लेकर वह आगरा भागे और यहीं, ३४ वर्ष की कम उम्र में ही सन १८६१ में उनका देहान्त हो गया।

पिता की मृत्यु के तीन महीने बाद, ६ मई सन् १८६१ को पण्डित मोतीलाल नेहरू का जन्म हुआ। बचपन में उनकी वेष-भूषा मुग़ल दरबारियों की सी थी।

पं० मोतीलाल के सबसे बड़े भाई श्री बंशीधर नेहरू ने सरकार के न्याय-विभाग में नौकरी कर ली और इस तरह सरकारी महकमे में चले गये। दूसरे बड़े भाई श्री नन्दलाल नेहरू राजपूताना की खेतरी रियासत के दीवान हो गये। दस वर्ष तक वह इस पद पर रहे। इसके बाद कानून का अध्ययन कर तथा उसकी परीक्षा पास कर वह आगरा में वकालत करने लगे। पं० मोतीलाल के लिये यह भाई

पिता तुल्य थे। इन्होंने मोतीलाल को बड़े ही स्नेह से पढ़ाया-लिखाया। दोनों भाइयों में एक-दूसरे के प्रति अगाध प्रेम था।

इन्हीं दिनों इलाहाबाद में हाईकोर्ट खुला। पं० नन्दलाल आगरा छोड़कर इलाहाबाद चले आये और वहीं वकालत करने लगे। इनकी वकालत काफ़ी चमकी, पर इनको बहुत बड़े परिवार का भरण-पोषण भी करना पड़ता था। इधर मोतीलाल ने स्कूल की पढ़ाई कानपुर में ख़त्म की और कालेज की पढ़ाई इलाहाबाद में। अद्भुत प्रतिभा तथा प्रखर बुद्धि होने के कारण उन्होंने अंग्रेजी, फ़ारसी तथा अरबी भाषा पर अधिकार प्राप्त कर लिया। अरबी पर उतना अधिकार न था जितना फ़ारसी तथा अंग्रेज़ी पर। पर पण्डितजी ने बिना बी.ए. की परीक्षा पास किये ही कालेज छोड़ दिया और हाईकोर्ट की कानून परीक्षा में शामिल हो गये। इस परीक्षा में वह बहुत अच्छे नम्बरों से पास हुए तथा प्रान्त में सर्व प्रथम आये। इनको "स्वर्ण पदक" मिला। यह पदक हाईकोर्ट की तरफ़ से दिया जाता था।

वकालत की परीक्षा पास कर पंडितजी ने तीन वर्ष तक कानपुर में काम सीखा और वकालत करने लगे। इसके बाद वह इलाहाबाद चले आये और हाइकोर्ट में काम करने लगे। पर, इनकी वकालत पूरी तरह जम भी न पाई थी कि पं० नन्दलाल की मृत्यु हो गयी। परिवार का सब बोझ पंडित मोतीलाल पर आ पड़ा। पर, वह ज़रा भी विचलित न हुए। उन्होंने बड़े परिश्रम के साथ काम किया और फल-स्वरूप वह इलाहाबाद हाइकोर्ट के ही नहीं, प्रान्त के ही नहीं, भारत के सबसे बड़े वकील हो गये। काफ़ी रुपया पैदा किया, काफ़ी यश कमाया और अन्त में, जब उन्होंने वकालत का पेशा छोड़ा, बड़े-बड़े न्याया-धीशों को यह कहना पड़ा कि "अदालती दुनिया की बड़ी हानि हुई।"

पण्डितजी बड़ी शान के साथ रहते थे। खूब ऐश्वर्य भोगा। विलायती वेश-भूषा, रहन-सहन तथा चाल-ढाल बहुत पसन्द थी, उसी रंग में रंगे रहे। अपने एक मात्र पुत्र पं० जवाहरलाल को विलायत में ही पढ़ाया और उनका अभिभावक भी अंग्रेज़ ही रखा।

सामाजिक विचार बहुत उन्नत थे। कर्म को ही प्रधान मानते थे। भाग्य की परवाह नहीं करते थे। जीवन बादशाहों का सा था पर दिल में अपने देश के लिये, ग़रीबों के लिये और अनाथों के लिये बड़ी दया थी।

राजनैतिक विचार के शुरू से ही थे— पर नर्म दल के व्यक्ति थे। सन् १९०७ में युक्त प्रान्तीय राजनैतिक परिषद् के सभापति थे। मिण्टो-मार्ले सुधार-योजना के बाद संयुक्त प्रान्त की जो नयी लेजि-स्लेटिव कौंसिल बनी, उसके मेम्बर चुने गये थे। सन् १९१२ में उन्होंने एक स्वतंत्र दैनिक पत्र अंग्रेज़ी में प्रकाशित कराया था—उसका नाम था "इण्डिपेण्डेण्ट"। कुछ दिनों बाद वह बन्द हो गया था पर १९१९-२० में फिर निकलने लगा था। सन् १९१९ में जब जलियाँ वाला बाग की घटना हुई तो उसकी जाँच के लिये कांग्रेस ने जो जाँच-समिति बनाया था, उसके मेम्बर पण्डितजी भी नियुक्त हुए और उसीके बाद वह अमृतसर कांग्रेस के सभापति हुए। इसी समय से वह अपनी नर्म-नीति छोड़कर महात्मा गांधी के साथ मिल गये। सन् १९२० में वकालत छोड़ा और १९२१ में प्रथम जेल-यात्रा की। सन् १९२६ में भारत सरकार ने "भारतीय सैनिक-समस्या अर्थात् हिन्दुस्तान के फ़ौजी मामलात की जाँच" के लिये एक समिति बनाया था, उसके सबसे प्रभावशाली सदस्य पण्डित मोतीलाल थे। इस कमेटी को यह रिपोर्ट देनी थी कि सरकार को सेना पर कितना ख़र्च कम करना

चाहिये, कितना रुपया बेकार ख़र्च हो रहा है और हिन्दुस्तानियों को सेना में अधिक से अधिक संख्या में भर्ती कराने के लिये क्या उपाय करना चाहिये। इस कमेटी को स्कीन कमेटी कहते हैं क्योंकि इसके अध्यक्ष सर एण्ड्रू स्कीन थे। सन् १९२६ में असेम्बली के स्वराज्य-पार्टी के सदस्यों ने अपनी मेम्बरी छोड़ दी अतः पण्डितजी ने भी स्कीन कमेटी की सदस्यता छोड़ दी।

सन् १९२६ से उनकी दमे की बीमारी बढ़ती ही गयी। इससे उनको बड़ा कष्ट रहता था पर उन्होंने कभी भी उसकी परवाह न की और सदैव काम में रत रहते थे। उन्होंने कभी विश्राम नहीं किया। डाक्टरों की सलाह पर कभी चलने की परवाह न की। अपनी धुनके पक्के थे। देश के लिये जीवन दे चुके थे। उन्होंने स्वास्थ्य को गिरने ही दिया।

प्रकृति का दण्ड बड़ा कठोर होता है। बीमारी गहरी हो गयी। ४ फ़रवरी, १९३१ को इलाहाबाद में हालत ज़्यादा खराब हो गयी। एक्स-रे की चिकित्सा के लिहाज़ से लखनऊ ले आये गये पर वहीं, ६ फ़रवरी, १९३१ को उनकी आत्मा स्वर्ग को सिधारी।

समूचा भारत रो पड़ा। भारतमाता के आँसू उमड़ पड़े, पर भगवान की लीला में किसी का क्या अधिकार!

मौलाना मुहम्मद अली

यों तो, हमारे सूबे में ऐसे अनेक मुसलमान हैं जो हिन्दुस्तान के लिये अपना सब कुछ त्याग कर, उसके उद्धार का कार्य कर रहे हैं पर यह बात निर्विवाद है कि इन सब मुसलिम देशभक्तों में मौलाना मुहम्मद अली का नाम सब से प्रथम और ऊँचा है। इनके बड़े भाई मौलाना शौकतअली ने भी देश-सेवा में जेल यातनायें सहीं और अनेक कष्ट झेले, पर सेवा तथा तपस्या दोनों की दृष्टि से मौलाना मुहम्मद अली का नाम अपनी निराली महत्ता रखता है।

इनका जन्म सन् १८७८ में हुआ था और बाल्यकाल तथा शिक्षा का क्षेत्र अलीगढ़ रहा। यहीं से उन्होंने बी. ए. की परीक्षा पास की और विलायत चले गये। लिन्कन कालेज, ऑक्सफ़ोर्ड से एम. ए. की परीक्षा पास कर स्वदेश लौट आये और आते ही रामपुर रियासत में चीफ़ एडुकेशनल आफ़िसर नियुक्त हुए। रामपुर की ही प्रजा होने के कारण तथा रामपुर के ही नागरिक होने के नाते नवाब रामपुर इन पर बड़ी कृपा रखते थे और इनको बड़ा होनहार व्यक्ति मानते थे। मुहम्मदअली ने रियासत की नौकरी सन् १९०२-३ तक की। दूसरे वर्ष गायकवाड़ सिविल सर्विस में नियुक्त हो गये और १९१० तक बड़ोदा की सरकार के यहाँ नौकर रहे। इनके विचार बहुत उन्नत थे और भारतीयता रोम-रोम में भरी हुई थी। पिछले महायुद्ध के ज़माने में, सन् १९१५ में भारत सरकार ने इनको नज़रबन्द कर दिया था और सन् १९१९ में छोड़े गये। नज़रबन्द होने के पहले, सन् १९१० के बाद, वह कुछ वर्षों तक "हमदर्द" नामक प्रसिद्ध उर्दू-पत्र

का सम्पादन करते रहे इनके सम्पादन मे पत्र ने बहुत उन्नति की उसके लेख बडे चाव से पढे जाते थे मुहम्मदअली की अग्रजी और उर्दू दोनो भाषाए काफी मजी हुई मुहावरेदार और प्रभावोत्पादक होती थीं।

नज़रबन्दी से छूटते ही कांग्रेस में शामिल हो गये। उन्हीं दिनों तुर्की के ख़लीफ़ा (शासक) के लिये तथा तुर्की को उसके राजनैतिक अधिकार दिलाने के लिये भारतवर्ष में आन्दोलन छिड़ा हुआ था। इस आन्दोलन को ख़िलाफ़त आन्दोलन कहते थे। मौ० मुहम्मद अली इसके नेता थे। महात्मा गांधी भी इनके साथ थे। महात्मा गांधी के प्रति मौ० मुहम्मद अली के हृदय में बड़ी श्रद्धा थी—बड़ा प्रेम था। महात्मा गान्धी भी मौलाना से बड़ा अनुराग रखते थे —दिल से उनको प्यार करते थे।

अस्तु, सन् १६२० में खिलाफ़त आन्दोलन की तरफ़ से एक डेपुटेशन लन्दन गया। उसके अध्यक्ष मौ० मुहम्मद अली थे। सन् १६२१ में उनको दो वर्ष के लिये पुनः जेल जाना पड़ा।

उन्होंने कई संस्थाएँ स्थापित की थीं। सन् १६०६ में मुसलिम लीग की रचना उन्होंने की थी और आज वह संस्था काफ़ी महत्वपूर्ण हो गयी है। सन् १६१३ में उन्होंने "ख़ुदाये क़ाबा" नामक धार्मिक संस्था की स्थापना की। सन् १६२० में अलीगढ़ में राष्ट्रीय मुसलिम विश्वविद्यालय का संगठन भी उन्होंने किया था। आज यह संस्था स्वतंत्र विचार के मुसलिमों का केन्द्र है और यहाँ बहुत अच्छे ढंग से शिक्षा दी जाती है। कालेज अलीगढ़ से उठ कर दिल्ली चला गया है। इस कालेज का नाम "जामियामिल्लिया इस्लामिया" है। इस कालेज के प्रथम तथा वर्त्तमान आचार्य ख्वाजा अब्दुल मजीद बड़े विख्यात

विलायत से उन्होंने बैरिस्टरी पास की थी अ
लत करते थे। अपना लाभदायक काम छोड़ व
ा के काम में लग गये।

म्बर १९२३ में, कोकनाडा में कांग्रेस का ३८ वाँ अि
इसके अध्यक्ष मौ० मुहम्मद अली थे। उनव

मौलाना मुहम्मद अली

् विद्वत्तापूर्ण था। उसमें उन्होंने यह साफ़ कह दिय
न के उद्धार के लिये यह आवश्यक है कि देश हिन्द
का मन्त्र सीख जावे। दोनों धर्म वालों को एक दूसरे व
कर प्रेम और स्नेह के साथ जीवन बिताना चाहिये

सन १६२४ में महात्मा गाधी ने हिन्दू मुसलिम एकता के लिये २१ दिन का उपवास किया इस अवसर पर, मौलाना मुहम्मदअली ने बड़े परिश्रम के साथ हिन्दू-मुसलिम एकता सम्मेलन बुलाया था। स्वयं उसके सभापति थे, एकता के लिये आवश्यक सिद्धान्तों को निश्चय करने के पश्चात् ही सम्मेलन को विसर्जित कर दिया गया।

यदि वह ऐसी एकता के प्रयत्न में बराबर लगे रहते तो आज हमारे देश में हिन्दू-मुसलिम एकता पूरी तरह से स्थापित हो गयी होती। पर, मौलाना साहब बड़े उग्र विचार के—तेज़ी से आगे बढ़ने की इच्छा रखते थे। समाज उनके पैरों से पैर मिलाकर चलने में कठिनाई का अनुभव करने लगा। शीघ्र सफलता न देखकर उन्होंने अपना ध्यान सब तरफ़ से बटोर कर मुसलिम भाइयों की सेवा में लगा दिया। कांग्रेस की सेवा भी बहुत कुछ कम कर दी। ख़िलाफ़त आन्दोलन भी ठण्डा पड़ गया था और मौलाना के बहुत से पुराने साथी उनसे अलग हो चुके थे।

वह बड़े धार्मिक व्यक्ति थे। ईश्वर और पैग़म्बर के सच्चे पुत्र और सेवक बनने की लगन के साथ चेष्टा करते थे। उनको 'क़ुरान' पर बड़ा विश्वास था। उनका कथन था कि—"मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि जो भी कोई खुले दिल और दिमाग़ से हमारे क़ुरान को पढ़ेगा, वह उसके अटल सत्य पर मुग्ध हो जायेगा और उसका अनु-यायी बन जावेगा। मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि बापू (महात्मा गांधी) ने बड़ी सावधानी से क़ुरान पढ़ा है और इस्लाम की सत्यता के विषय में उनके मन में कोई सन्देह नहीं है।"

निस्सन्देह क़ुरान एक महान सत्य का प्रतिपादन करता है और महा-ग्रन्थ है। उसी तरह से बाइबिल भी महान ग्रन्थ है और हमारे

शास्त्र भी सत्य के साक्षात् प्रमाण हैं सभी धर्म-ग्रन्थ महान हैं सब के अन्दर एक ही सत्य है—"ईश्वर है"।

अत्यधिक कार्य करने के कारण उनका स्वास्थ्य गिरने लगा था। १९२८ में तबीयत अधिक ख़राब हो गयी इसलिये यूरोप चले गये। वहाँ से लौटने के बाद, सन् १९३० में फिर इङ्गलैण्ड गये। लन्दन में, भारत के लिये नवीन शासन-योजना तय्यार करने के लिये प्रथम गोलमेज़ सम्मेलन हो रहा था। मौलाना साहब उसमें प्रतिनिधि होकर गये थे। स्वास्थ्य ख़राब होने के कारण, डाक्टरों ने उन्हें आराम करने की सलाह दी—पर वह काम करते ही रहे। फलतः लन्दन में ही बीमारी बहुत बढ़ गयी और ४ जनवरी, १९३१ को ४॥ बजे तड़के वहीं उनका देहान्त हो गया। इनकी मृत्यु के समाचार से भारत भर में शोक छा गया।

सर तेज बहादुर सप्रू

६ दिसम्बर, सन् १८७५ को सर तेज बहादुर सप्रू का जन्म हुआ था। इस समय उनकी उम्र ६५ वर्ष की है, स्वास्थ्य भी कोई वैसा बुरा नहीं है। दिन चर्य्या पूर्ववत नियमित रूप से चल रही है, खाने पीने इत्यादि का पूरा संयम है, नित्य का काम भी पूरी मिहनत से होता है और भगवान की कृपा से वह अपने देश की अधिक दिनों तक सेवा कर सकेंगे।

सर तेजबहादुर सप्रू नर्म विचार के नेता हैं—पर आज हमको उनके विचार नर्म मालूम पड़ते हैं। सन् १६१० से १६१६ तक वह भी उतने ही उग्र और गर्म विचार के राजनीतिज्ञ समझे जाते थे जितना कि आजकल कांग्रेसवाले! उन्होंने ऐसे समय में देश की सेवा की है जब उसकी ओर बहुत कम लोगों का ध्यान था। सच पूछिये तो भारत की राष्ट्रीयता के निर्माताओं में सर तेजबहादुर सप्रू का नाम आदर से लिया जाता है।

हरएक युग तथा समय की राजनीति, आन्दोलन तथा कार्य-प्रणाली और उसका नेता पृथक् पृथक् हुआ है। सर तेज के राजनैतिक विचार आज हमें नर्म मालूम पड़ते हैं पर इससे उनकी महत्ता तथा देश-सेवा के लगन की गौरव-गाथा कम नहीं होती। अखिल भारतीय कांग्रेस की वर्षों तक सेवा करने के बाद जब उन्होंने देखा कि रचनात्मक काम करने के स्थान पर, सरकार के साथ सहयोग करते हुए देश-सेवा करने के बजाय, कांग्रेस असहयोग आन्दोलन चलना चाहती है तो उन्होंने उससे सम्बन्ध हटा लिया और सन् १६१६

दल या लिबरल लीग बनी, उसमें शामिल हो गये
र देश-सेवा के कार्य को उन्होंने जारी रखा-
अधिक परिश्रम से किया। आज बृटिश सरक
रों से लेकर राजनीतिज्ञों में उनका जो स्थान है,
दर और सम्मान है उसका जिन्हें ज्ञान है, वह

सर तेज बहादुर सप्रू

। हैं कि यदि सर तेज चाहते तो उनको किसी प्रा
ादरणीय पद आसानी से मिल सकता था। पर
भ-लालच से वह सदैव दूर रहे। वह किसी बन
-पर, स्वतंत्र रूप से जीवन बिताना चाहते हैं

स्वतन्त्र रूप से अपना विचार प्रकट करने के आदी हैं। ये दोनों सुविधायें सरकार के उच्च से उच्च पद पर पहुँचने पर भी नहीं प्राप्त हो सकतीं।

सर तेज के विषय में स्व० साधु सी. एफ़. एण्ड्रूज़ ने लिखा है कि उनके ऐसा स्पष्ट विचारक मिलना मुश्किल है। वह हरएक बात की गहराई में इतनी सरलता से पहुँच जाते हैं और अपना विचार इतने साफ़ ढंग से सबके सामने रखते हैं कि श्रोता मुग्ध हो जाते हैं। उनकी भाषा खरी, सीधी, साफ़ और बिना अनुचित लच्छे के होती है।

स्वभाव से वह राजनीतिक दृष्टि से "कांजर्वेटिव"-"अनुदार" या पुरानी रूढ़ि के हैं। क्रान्तिकारी परिवर्त्तन न तो उनको पसन्द है, न वह उसको स्वीकार करने के लिये तय्यार ही हैं। धार्मिक दृष्टि से वह लोगों को ज़रा भी आकर्षित नहीं कर सकते। ईश्वर की सत्ता में उनको विश्वास है। वह ईश्वर की उपासना का अर्थ "सत्य" मय जीवन व्यतीत करना समझते हैं। धार्मिक आडम्बर, धार्मिक विधान, कथा-वार्त्ता ऐसी चीज़ों में उन्हें ज़रा भी रुचि नहीं है। अपनी पचीस वर्ष की उम्र से ही वह कट्टर समाज-सुधारक हैं। छूत-अछूत, बाल-विवाह, विधवा का विवाह न करना—इत्यादि बुराइयों के वह घोर विरोधी रहे हैं और जिन दिनों समाज-सुधार की बातें भी करना अपराध समझा जाता था—अपने विचारों को खुले आम प्रकट करने में उनको तनिक भी कष्ट या संकोच नहीं होता था।

सन १९०६ के जाड़े के दिनों में—जब कि सर तेज बहादुर की उम्र ३१ वर्ष की थी, इलाहाबाद में एक सभा बुलाई गयी जिसको "पार्टी" का रूप दिया गया था तथा जिसका उद्देश्य राजनैतिक मसलों पर विचार करना था। उस अवसर पर सर तेज ने कहा था—

"जब तक हमारे देशवासी सामाजिक तथा पारिवारिक बन्धन और पराधीनता में पड़े रहेंगे, राष्ट्रीय स्वाधीनता की उनकी माँग कमज़ोर बनी रहेगी।"

उनके ये शब्द आज भी सत्य हैं। उनकी इस बात को बहुत दूर तक सोचना-समझना चाहिये और उसके अनुसार अपना कल्याण करना चाहिये। सर सप्रू रचनात्मक तथा वैध कार्यक्रम के पक्षपाती हैं पर वह कमज़ोर दिल वाले या डरपोक नहीं हैं। सन् १६०७-१६१६ तक उन्होंने जमकर कांग्रेस-कार्य किया है। जब कभी अवसर मिला, सामाजिक क्रान्ति का झण्डा भी फहराते रहे हैं। और जब निडर होकर राजनैतिक माँग पेश करनी थी--उसे पेश किया है। आज के १३-१४ वर्ष पहले दक्षिण अफ्रिका के प्रमुख राजनीतिज्ञ तथा शासक जेनरल स्मट्स ने वहाँ रहने वाले भारतीयों को गोरे लोगों के बराबर अधिकार देना अस्वीकार कर दिया। इसके साथ ही, बृटिश साम्राज्य के और उपनिवेशों में भी जहाँ भारतीय बसे हुए थे उनको न तो कोई राजनैतिक अधिकार थे और न कोई सहूलियतें। उनके अधिकारों के लिये देशभक्त सी एफ. एण्डू ज़ बड़ी दौड़-धूप कर रहे थे। वह जब कभी सर तेज के पास इस काम में सहायता लेने के लिये गये---जी-जान से उन्होंने प्रवासी भारतीयों की सहायता की। सन् १६२३ में जो "साम्राज्य सम्मेलन" लन्दन में हुआ था, उसमें वह भारत की ओर से प्रतिनिधि थे। सर तेज ने उस समय बहुत सुन्दर भाषण दिया था। आपने कहा था कि "हम सभी बृटिश साम्राज्य के अन्तर्गत हैं और बराबरी का दावा करते हैं। हमको सम्राट् की भोजनशाला से निकाल कर उनके घुड़साल में नहीं फेंका जा सकता।"

भारत के राजनैतिक अधिकारों के लिये सर तेज ने बहुत अधिक संघर्ष किया है। उसके शासन-विधान का मस्विदा बनाने में उनका बहुत हाथ रहा है, सरकारी क़ानूनों में, सरकार की शासन-प्रणाली मे बहुत कुछ संशोधन उन्हींके परिश्रम से हुआ है। सन् १९३७ से हमारे देश में जो नया शासन-विधान प्रचलित हुआ है इसके बनने के पहले लन्दन में कई सम्मेलन, मीटिंग इत्यादि हुई थीं। इनको गोलमेज़ सम्मेलन कहते हैं तथा इसमें भारत से बहुत से प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। इस गोलमेज़ सम्मेलन के साथ कई कमेटियाँ भी थीं। इनमे सन् १९२९-१९३४ तक कई बार सर तेज को शामिल होना पड़ा था और इसलिये उन्हें कई बार विलायत की यात्रा करनी पड़ी थी। भारत को वह जितना अधिकार दिलाना चाहते थे, उतना न मिल सका—इसका उन्हें अवश्य खेद रहा। भारत और भारत सरकार के ही लिये उन्हें इतनी यात्राएँ करनी पड़ीं जितनी बहुत कम राजनीतिज्ञों ने की होंगी। इन यात्राओं के कारण उन्हें संसार का काफ़ी अनुभव भी प्राप्त हुआ है। स्वभाव के बहुत ही सरल, सीधे और मिलनसार व्यक्ति होने के कारण, उनसे बात करने में बड़ा आनन्द आता है।

अस्तु, सर तेज की शिक्षा के विषय में इतना ही लिख देना पर्य्याप्त होगा कि वह एम.ए., एल.एल-डी. हैं। उनका विद्यार्थी जीवन आगरा में ही बीता और आगरा कालेज में ही उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। क़ानून का उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान है। यह कहना अनुचित न होगा कि वह कानून-शास्त्र में आजकल हमारे देश में सबसे बड़े विद्वान् हैं। सन् १८९६ से उन्होंने वकालत शुरू की। इलाहाबाद हाईकोर्ट में "एडवोकेट" हुए। सन् १९२६ तक नियमित रूप से वकालत चली। बीच में, सन् २१-२२ में उन्हें वकालत से छुट्टी लेकर

भारत सरकार के "लॉ मेम्बर" (क़ानून-सदस्य) का बहुत ही सम्मानित तथा जिम्मेदारी का पद ग्रहण करना पड़ा था। सन् १९२६ के बाद देश के राजनैतिक कार्यों में उनका बहुत समय व्यतीत होने लगा और लगभग १० वर्ष तक वकालत का काम बन्द सा रहा। पिछले दो वर्षों से वह पुनः अपना काम नियमित रूप से करने लगे हैं। इलाहाबाद हाईकोर्ट की, बीसवी शताब्दि में सबसे बड़े वकील स्व० पं० मोतीलाल नेहरू थे। आजकल सर तेज बहादुर सप्रू वकीलों के सरताज हैं।

हमारे प्रान्त की पुरानी कौंसिल के जो माण्टेगू चेम्सफ़ोर्ड सुधार योजना के पहले बनी थी, सर तेज सन् १९१३-१६ तक सदस्य रहे। सन् १९१६ में वह वाइसराय की कौंसिल—इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल के मेम्बर हुए और सन् १९२० तक इसके मेम्बर रहे। सन् १९१३ में वह युक्त प्रान्तीय सामाजिक परिषद् के सभापति रहे और सन् १९१४ में युक्त प्रान्तीय राजनैतिक परिषद् के कांग्रेस से अलग होने पर सन् १९१९-२० में वह युक्त प्रान्तीय लिबरल लीग के अध्यक्ष रहे। सन् १९२३ में अखिल भारतीय लिबरल फ़ेडरेशन, पूना अधिवेशन के सभापति हुए। इसी दल के बम्बई-अधिवेशन (सन १९२७) के भी वह अध्यक्ष थे।

पिछले युद्ध के बाद भारत के शासन-विधान में परिवर्तन की योजना बनने लगी। उसी सिलसिले में, जाँच के लिये एक कमीशन बिठाया गया। लार्ड साउथबरो इसके अध्यक्ष थे। सर तेज भी इसके सदस्य बनाये गये। विधान-सम्बन्धी एक और कमेटी थी जिसका नाम, उसके अध्यक्ष के नाम पर, सेलबोर्न कमेटी था। सन् १९१९ में, इस कमेटी में लिबरल पार्टी की ओर से गवाही देने के लिये जो डेपुटेशन गया था, उसके नेता सर तेज थे।

सन् १६२२ में लॉ मेम्बर के पद से इस्तीफ़ा देने के बाद वह सन १६२३ में इम्पीरियल कान्फ्रेंस, लन्दन में शामिल हुए थे। सन् १६२४ में शासन-सुधार की आगामी योजना तथा पिछले सुधार की प्रगति की जाँच के लिये "रिफ़ार्म्स इन्क्वायरी कमेटी" नियुक्त हुई थी। सर तेज इसके भी सदस्य बनाये गये थे। सन् १६२८-३४ गोलमेज सम्मेलन इत्यादि के सम्बन्ध में इनको जो परिश्रम करना पड़ा था, वह हम ऊपर लिख आये हैं। इनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर सन १६२३ में इन्हें सरकार ने "के.सी.एस.आई" की उपाधि से विभूषित किया था।

यहाँ हम एक महत्त्वपूर्ण कार्य का और उल्लेख कर दें। क़ानूनी पेशा करनेवाले जानते हैं कि क़ानून की दुनियाँ में इलाहाबाद से निकलने वाला "लॉ जर्नल" कितना महत्त्वपूर्ण पत्र है। पर इसकी महत्ता का सबसे प्रधान कारण यह है कि सन् १६०४ से १६१७ तक लगातार और नियमित रूप से तेज बहादुर सप्रू ऐसा योग्य व्यक्ति इसका सम्पादक था।

राजनीति के क्षेत्र में रहते हुए भी सर तेज ने शिक्षा के काम में भी हाथ बँटाया है। सन् १६१०-२० तक वह इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के "फ़ेलो" थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना में उन्होंने मालवीयजी की सहायता की तथा उसके कोर्ट, सीनेट, सिण्डिकेट इत्यादि के सम्मानित सदस्य थे।

उपर्लिखित पंक्तियाँ इस महापुरुष की जीवनी से कुछ परिचय कराने के लिये पर्य्याप्त होंगी। भगवान् करे सर तेज बहादुर सप्रू दीर्घायु तथा सदैव स्वस्थ रहें।

डा० एम. ए. अन्सारी

भारतीय मुसलिमों में सबसे अधिक प्रतिभाशाली तथा राष्ट्रीय मुसलमान डा० एम. ए. अन्सारी कहे जाते हैं।

यद्यपि उनका कार्य-क्षेत्र प्रधानतः दिल्ली ही था और वहीं रह कर डाक्टरी का पेशा करने के कारण वह दिल्लीवासी समझे जाते हैं, पर वास्तव में वह हमारे प्रान्त के हैं। बनारस कमिश्नरी में ग़ाज़ीपुर नामक एक नगर है। वह यहीं के रहने वाले थे। उनका बचपन यहीं बीता। सन् १८८० में उनका जन्म हुआ था। इन्होंने बनारस के स्कूल और कालेज में शिक्षा प्राप्त की थी।

कालेज की पढ़ाई समाप्त कर उन्होंने भारत में ही डाक्टरी की पढ़ाई भी शुरू की और चिकित्सा-शास्त्र में विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिये इङ्गलैण्ड चले गये। इनकी प्रखर बुद्धि तथा डाक्टरी-विज्ञान में अनोखी प्रगति देख कर इनके विलायती प्रोफ़ेसर इन्हें बहुत मानते थे। डाक्टरी की उच्चतम परीक्षा पास कर, लन्दन में ही, एक अस्पताल में वह "हाउस सर्जन" हो गये। यह घटना १९०५ की है। इस पद पर बड़ी योग्यता के साथ काम करने के बाद वह स्वदेश वापस आ गये और दिल्ली में रह कर डाक्टरी का पेशा करने लगे। यहाँ पर इतना लिख देना उचित होगा कि म्योर सेन्ट्रल कालेज, इलाहाबाद, निज़ाम कालेज डेकन तथा एडिनबरा (स्कॉटलैण्ड) विश्वविद्यालय की डिग्रियाँ इन्होंने प्राप्त की थीं। एडिनबरा से उन्होंने सन् १९०५ में एम. बी., सी. एच. बी. की डिग्री हासिल की थी।

भारत वापस आने पर, उनका ध्यान राजनीतिक क्षेत्र की ओर गया भारतीय मुसलिमों की दुर्दशा से वह बहुत दुःखी थे। सन् १९१२-१३ में टर्की को जो अखिल भारतीय मेडिकल मिशन गया था, उसके सदस्य भी डा० अन्सारी थे। टर्की के मुसलिमों की गिरी हालत से भी उनको बहुत क्षोभ हुआ।

सन १९१४ का महायुद्ध छिड़ने के बाद वह राजनीति में और भी अग्रसर हुए। इस समय तक उनका यह विश्वास दृढ़ हो गया था कि भारत का हित इसी में है कि यहां के हिन्दू-मुसलमान एकता के सूत्र में बँध कर काम करें। श्रीमती बेसेण्ट ने जब "होम-रूल" अर्थात् स्व-शासन का आन्दोलन चालू किया तो डा० अन्सारी भी उसमें शामिल हो गये और उन्होंने बहुत काम किया।

उनकी ठोस राजनैतिक सेवा का यहीं से श्री गणेश हुआ। महात्मा गांधी के वह बड़े भक्त थे। खिलाफ़त आन्दोलन में भी वह शामिल थे। सन् १९२० में अखिल भारतीय मुसलिम लीग के सभापति थे। महात्मा गांधी का अनुकरण कर वह असहयोगी हो गये और दो बार जेल भी हो आये।

देश के राजनैतिक जीवन में उन्होंने बड़ा भाग लिया है। सन् १९२७ में, कांग्रेस के ४२ वे अधिवेशन में, जो मद्रास में हुआ था — डा० अन्सारी अध्यक्ष थे। उन्हीं की अध्यक्षता के समय देश के सभी राजनैतिक दलों को एक में मिलाने तथा हिन्दू-मुसलमानों में स्थायी ऐक्य स्थापित करने का भगीरथ प्रयत्न किया गया था। सर्व-दल सम्मेलन के अध्यक्ष भी डा० अन्सारी थे।

सन् १९३१ मे गांधी जी तथा वाइसराय में जो इतिहास-प्रसिद्ध समझौता हुआ था—जिसे गांधी-इरविन पैक्ट कहते हैं— उस सम-

का तय्यार करने मे डा० अन्सारी ने बड़ा परिश्रम ि
ों की दौड़-धूप के कारण कांग्रेस तथा सरकार में सम
। हो सका था।
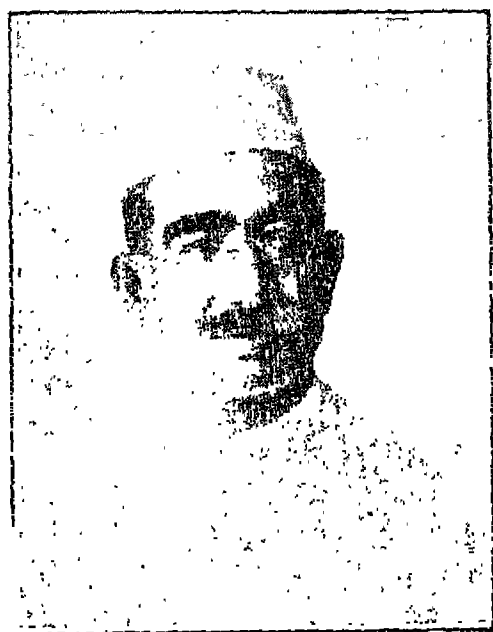
डा० एम. ए. अन्सारी

साहब ने अपने व्यवसाय में बहुत उन्नति की। दे
द तथा कुशल डाक्टरों में उनकी गणना होती थी। उ
ारण उन्होंने धन और यश दोनों ही कमाया। यदि
धिक धनी हो सकते थे पर स्वभाव के बहुत ही
दयालु होने के कारण वह बहुत कुछ चिकित्सा मुफ

किया करते थे गरीब मरीज को औषधि तथा भोजन तक अपने पास से दे देते थे

उन्होंने जीवन भर देश-सेवा तथा देशोद्धार के लिये प्रयत्न किया। हिन्दुओं और मुसलमानों में सच्चा भाईचारा और प्रेम-बन्धन स्थापित करने के लिये जितना प्रयत्न उन्होंने किया उतना अन्य किसी ने भी नहीं किया। प्रसिद्ध देश-भक्त मौलाना अबुल कलाम आज़ाद का नम्बर उनके बाद आता है।

किन्तु, वह दीर्घजीवी न हो सके। १० मई, १९३६ ई० को, देहरादून से दिल्ली जाते समय, हृदय की गति यकायक रुक जाने के कारण, ट्रेन पर ही उनकी मृत्यु हो गयी!

पं० गोविन्दवल्लभ पन्त

अल्मोड़ा हिमालय की सुरम्य और ऊँची पर्वतमालाओं के कारण बड़ा ही मनोहर और सुन्दर स्थान है। यहाँ के निवासी भी गोरे और खूबसूरत होते हैं।

अल्मोड़ा ज़िले में खूँट नाम का एक बड़ा ग्राम है। इसे "पन्त" ब्राह्मणों का ग्राम कहते हैं। इस गाँव की आबादी अधिकांशतः पन्त ब्राह्मणों की है और शेष में उनके नौकर चाकरों की थोड़ी-सी बस्ती है। यहीं पर श्यामा देवी का मशहूर मन्दिर है जिसके दर्शन के लिये दूर-दूर से यात्री आते हैं। इसी ग्राम में, सितम्बर १८८७ में श्री गोविन्द वल्लभ पन्त का जन्म हुआ था।

पं० गोविन्दवल्लभ पन्त के नाना बड़े प्रसिद्ध व्यक्ति हो गये हैं। गढ़वाल और कुमाऊँ की कमिश्नरी में--हिमालय की गोद में पलने वाले सरकारी ज़िलों में उनका नाम और यश उतना ही अधिक है जितना कि जर्मनी में उसके भाग्य-निर्माता बिस्मार्क का। प्राचीन पहाड़ी राजाओं के दीवान वंश में पं० बदरीदत्त जोशी का जन्म हुआ था। जोशीजी गोविन्दवल्लभ पन्त के नाना थे।

उन्नीसवीं शताब्दि के अन्तिम काल में हिमालय के पहाड़ी जिले भारत सरकार के हाथ में आ गये थे पर युगों से स्वतन्त्र रहने वाले पहाड़ियों को किसी हुकूमत में रखना टेढ़ी खीर थी। इसके लिये बड़े योग्य शासक की आवश्यकता थी। कुमाऊँ की कमिश्नरी जिसमें अल्मोड़ा, नैनीताल इत्यादि क़स्बे शामिल हैं--के शासन के लिये सरकार ने एक बहुत ही योग्य शासक नियुक्त किया था। इनका

नाम था सर हेनरी रैमज़े। भारत में ब्रिटिश-शासन की जड़ मज़बूत करने वाले, प्रसिद्ध बड़े लाट, लार्ड डलहौज़ी के ये सगे भतीजे थे। पहाड़ों में इनका नाम चारों ओर फैल गया और पहाड़ी इन्हें बहुत मानने लगे, यहाँ तक कि इनका नाम भी रैमज़े से बदल कर "रामजी साहब" हो गया। भारत के १२ महान् शासकों में "रामजी साहब" की गणना होती है। किन्तु इनकी सफलता और यश का कारण एक दूसरा ही था। इनके दाहिने हाथ थे पं० बदरीदत्त जोशी। यद्यपि वह केवल "सदर असीन" के पद पर थे पर उस समय यह पद बड़ा महत्त्वपूर्ण होता था। रैमज़े साहब इन्हें बहुत मानते थे और इन्हीं के कहने पर चलते थे। पं० बदरीदत्त जोशी की प्रतिभा और बुद्धि के ही कारण रैमज़े का इतना नाम हो गया और वह इतने सफल शासक हो सके।

ऐसे ही ईश्वर-भक्त और चतुर राजनीतिज्ञ व्यक्ति के यहाँ पं० गोविन्द वल्लभ पन्त का बाल्यकाल व्यतीत हुआ। वह अपने नाना के पास रहते थे और उन्हींकी देखरेख में, ७ वर्ष तक शिक्षा पाते रहे। बुद्धि बड़ी तीव्र और कुशाग्र थी। चारों ओर जो कुछ देखते, उसे समझने की चेष्टा करते। नाना की परिश्रमशीलता का इन पर बहुत प्रभाव पड़ा। अल्मोड़ा स्कूल की पढ़ाई थोड़ी ही उम्र में समाप्त कर दी और वहीं के रैमज़े कालेज में भर्त्ती हो गये।

कालेज की पढ़ाई चालू होने तक नाना का देहान्त हो गया। जोशीजी ने ईमान्दार आदमी होने के कारण सरकारी नौकरी की बदौलत ज़मीन या ज़ायदाद नहीं पैदा की थी। पं० गोविन्दवल्लभ पन्त के पिता भी साधारण स्थिति के गृहस्थ थे। अतएव आगे की पढ़ाई की समस्या विकट हो गयी।

गोविन्दवल्लभ अपनी परिस्थिति से ज़रा भी उदास नहीं
हापुरुष होना था—वह सब बाधाओं को अपने परिश्रम
पार करते हुए आगे बढ़े। सन १९०५ में वह
ालेज, इलाहाबाद में भर्त्ती हो गये। पढ़ाई का खर्च
प्राइवेट ट्यूशन कर लिया। काशी के प्रसिद्ध दानवीर

पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त

ापीठ और ज्ञान मण्डल ऐसी संस्थाओं के जन्मदाता
ुप्त उन दिनों इसी कालेज में, छोटे दर्जे में पढ़ते थे।
भ इन्हें गणित पढ़ाने जाया करते थे। युक्तप्रान्त के प्रसिद्ध
तपूर्व न्याय-मंत्री डा० कैलाशनाथ काटजू पन्तजी के
र उन्हीं के साथ वकालत की परीक्षा भी पास की।

अस्तु १९०७ मे बी ए पास कर प० गोविन्दबल्लभ पन्त ने वकालत की पढाई शुरू की और दो वष मे वकील हो गय वकालत की परीक्षा मे वह सर्व प्रथम होकर ही पास नही हुए बल्कि इतने ज्यादा नम्बर मिले थे कि इन्हें इस सफलता पर प्रान्त में सर्वोच्च पारितोषिक भी मिला था।

म्योर सेण्ट्रल कालेज को इस समय अनेक भावी महापुरुषों को शिक्षा देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। कर्मवीर सुन्दरलाल आपके सहपाठी ही थे। आचार्य्य नरेन्द्रदेव ने भी कालेज में पढ़ाई प्रारम्भ की थी। समय पाकर गोविन्दबल्लभ इन सब 'विद्यार्थियों' के नेता बन गये।

सन् १९०९ में ही पं० गोविन्दबल्लभ पन्त ने अल्मोड़ा में वकालत करना प्रारम्भ कर दिया। इस विषय में एक रोचक बात ध्यान में रखने योग्य है। आपका पहला मुक़द्दमा मि० पन्नालाल, ज्वायण्ट मैजिस्ट्रेट के इजलास पर हुआ था। वह एक बड़े नामी वकील के मुकाबले में मुक़द्दमा लड़ रहे थे। आप मुक़द्दमा जीत गये और जीतने की खुशी में, उस मुक़द्दमे की बारीक़ियों के बारे में, उस बड़े वकील से, अदालत के बाहर बहस करने लगे। यह बहस मि० पन्नालाल ने भी सुनली और इनको बुलाकर कहा—

"देखो युवक, तुम्हें एक सलाह देता हूँ। अपने मुक़द्दमे के बारे मे अपने प्रतिपक्षी से कभी बहस मत किया करो!"

पं० गोविन्दबल्लभ पन्त को यह सलाह कभी न भूली—पर यह भी मजे की बात थी कि जब आप युक्त प्रान्तीय सरकार के प्रधान मंत्री हुए तो इन्होंने उन्हीं मि० पन्नालाल को प्रान्तीय सरकार का चीफ़ सेक्रेटरी नियुक्त किया और वह हमारे सूबे के पहले हिन्दुस्तानी चीफ़ सेक्रेटरी हुए।

अस्तु, अल्मोड़ा काफ़ी बड़ी जगह न थी। पन्त जैसे प्रतिभाशाली वकील को विस्तृत क्षेत्र की आवश्यकता थी। काशीपुर में वकालत प्रारम्भ की। जाड़े में काशीपुर रहते और गर्मी में नैनीताल। थोड़े ही समय में वह अपनी कमिश्नरी के सबसे बड़े, नामी और प्रतिष्ठित वकील हो गये। इनका बहस करने का ढंग, कानूनी ज्ञान और अपना पक्ष प्रमाणित करने का तरीक़ा बहुत ही अच्छा समझा जाता था। आपको प्रान्त के वकीलों में आदरणीय स्थान प्राप्त करने में देर न लगी। यही नहीं, नैनीताल हमारे सूबे की गर्मी की राजधानी है। गवर्नर, मंत्री, सेक्रेटेरियट सब यहीं पर रहते हैं। अतएव आप का बड़े से बड़े अधिकारी से अच्छा ख़ासा परिचय हो गया था और प्रान्त के सरकारी विभाग में भी उनकी अच्छी क़द्र होने लगी थी।

देश-सेवा के प्रति इनका झुकाव युवा अवस्था ही से था। सन् १६०५ में जब बनारस में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, वह उसमें सम्मिलित हुए और तभी से वह बराबर कांग्रेस के सम्पर्क में रहे। वकालत प्रारम्भ करने के पश्चात् वह केवल रुपया कमाने में ही नहीं लग गये बल्कि उन्होंने पहाड़ी लोगों की दशा सुधारने के लिये बहुत कुछ काम किया। पहाड़ियों में घोर अशिक्षा और दरिद्रता छाई हुई थी। उनको सबसे बड़ी परेशानी इस बात की थी कि जब भी कोई अदना से अदना सरकारी अहलकार चाहे, किसी को भी बेगार पकड़ लेता था और दिन-रात परिश्रम लेने के पश्चात् एक टका भी मज़दूरी नहीं देता था। पहाड़ियों के दुःख-दर्द को सरकार के कान तक पहुँचाने के लिये तथा उन्हें अच्छी तरह से संगठित करने के लिये सन् १६१६ में आपने "कुमाऊँ परिषद्" नामक संस्था स्थापित की और इसी संस्था के तत्त्वावधान में जंगल आन्दोलन तथा कुली-बेगार

प्रथा-विरोधी आन्दोलन चालू किया। लगातार चार वर्ष तक परिश्रम करने के बाद सन् १९२० में यह आन्दोलन सफल हुआ और पहाड़ियों से बेगार लेना एक जुर्म क़रार दिया गया। इस क़ानून के बन जाने से पहाड़ी लोग आपको देवता की तरह पूजने लगे।

कुमाऊँ का ज़िला और कमिश्नरी "पिछड़े लोगों का ज़िला" माना जाता था और उसको बनारस, लखनऊ, इलाहाबाद ऐसी कमिश्नरियों के बराबर अधिकार नहीं प्राप्त था। कुमाऊँ को भी अन्य कमिश्नरियों के बराबर स्थान दिलाने का आन्दोलन भी आपने चलाया। इन सब विषयों की जाँच के लिये सरकार ने, सन् १९१८ में एक कमीशन बैठाया जिसका नाम साउथबोरो कमीशन था। इसके सामने, अपनी कमिश्नरी की ओर से पन्त ने इतनी विद्वत्तापूर्ण और अच्छी बहस की कि इनकी बात मानकर सरकार ने उसे भी अन्य कमिश्नरियों के बराबर अधिकार दे दिया। यह सफलता भी सन् १९२० में प्राप्त हुई।

पं० गोविन्दवल्लभ पन्त सन् १९१६ से ही कांग्रेस में शामिल हैं और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य रहते आये हैं। पर, शुरू में वह महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन से असहमत थे अतएव १९१९-२० में उससे अलग रहे। उनकी प्रवृत्ति रचनात्मक कार्य की ओर सदैव से ही रही है। वह सरकारी संस्थाओं के साथ सहयोग करते हुए, उनसे अधिक से अधिक लाभ उठाते हुए, देश-सेवा करने के पक्षपाती रहे हैं। इस प्रकार, पं० गोविन्दवल्लभ पन्त वास्तव में साधारण जनसमूह के नहीं, पर राज-काज के पण्डितों, क़ानून बनाने वाली असेम्बली या कौंसिल के मञ्च पर सबसे आगे की श्रेणी के नेताओं में हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह कायर या कमज़ोर हैं। सन् १९३० और १९३२ में वह जेल भी हो आये हैं और सन् १९४० में वह तीसरी बार

जेल गये है इसी जेल जीवन के कारण उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था पन्तजी रचनात्मक तथा बौद्धिक कार्यों म अधिक सफल और यशवान् है

सन् १६२३ में हमारे प्रान्त की कौंसिल का चुनाव हुआ। स्वराज्य पार्टी की ओर से उम्मीद्वार खड़े कराये गये। कौंसिल में भाग लेने के पक्षपाती आप भी थे। वह भी चुनाव में खड़े हुए और सफल हुए। पर अभी तक इनका नाम पहाड़ी भूमि से उतर कर मैदान में नहीं फैला था। इसलिये कौंसिल में स्वराज्य-पार्टी के नेता का चुनाव होने के समय किसी को इनका ध्यान भी न था। पार्टी के नेताओं की एक कमेटी बना दी गयी जिसमें पं० जयकरणनाथ मिश्र, श्री मुकुन्दीलाल तथा पं० गोविन्दवल्लभ पन्त आदि थे। पर, कुछ ही महीनों में यह सिद्ध हो गया कि स्वराज्य पार्टी का अगुआ बनने की योग्यता एक व्यक्ति में विशेपरूप से है—और वह हैं पं० गोविन्दवल्लभ पन्त—वह नेता चुने गये। बस, इसी समय से इनकी ख्याति, प्रशंसा तथा गौरव का युग प्रारम्भ होता है। पन्तजी अपने कालेज के जीवन मे वादाविवाद प्रतियोगिता में सर्व-प्रथम आते थे। व्याख्यान देने की इनकी शैली अनोखी थी। युक्त प्रान्त के प्रमुख पत्रकार श्री सी. वाई. चिन्तामणि उन दिनों "इण्डियन पीपुल" का सम्पादन करते थे। उन्होंने भी युवक पन्त का व्याख्यान सुना था और इनकी वाक्पटुता की बड़ी प्रशंसा की थी। इन्हीं चिन्तामणि तथा पं० गोविन्द बल्लभ पन्त का साथ कौंसिल में वर्षों तक रहा।

अस्तु, व्याख्यान देने की प्रतिभा, साथ ही, गहरे अध्ययन के कारण पन्त के व्याख्यानों की धूम मच गयी। सन् १६२६ में वह पुनः चुने गये और इस बार श्री गणेश शङ्कर विद्यार्थी तथा श्रीसम्पूर्णानन्द ऐसे साथी भी कौंसिल में आ गये थे। हमारे प्रान्त की

यह कौंसिल अनेक प्रतिभाशाली मेम्बरों के कारण बड़ी आकर्षक संस्था हो गयी थी। चार वर्ष तक मेम्बरी करने के पश्चात् पन्त तथा उनके साथियों ने कौंसिल छोड़ दी और जेल-यात्री बने। किन्तु, जेल जाने के पहले उन्होंने एक और बड़ा काम किया था। युक्त-प्रान्त के किसानों की दशा की जाँच के लिये कांग्रेस ने एक कमेटी नियुक्त की थी। इसके सर्वे-सर्वा पन्तजी ही थे। पन्त-कमेटी की रिपोर्ट प्रान्त के किसानों की दशा का सबसे अच्छा वर्णन करती है।

जेल से छूटने पर पं० गोविन्दवल्लभ पन्त दो-तीन साल तक बीमार रहे। पर, देश इन्हें चैन कब लेने देता। कांग्रेस की ओर से असेम्बली और कौंसिल में जानेवाले कांग्रेसी मेम्बरों के चुनाव और उन पर देखरेख रखने के लिये एक 'कांग्रेस पार्लामेण्टरी बोर्ड' बनाया गया था जिसके आप भी मेम्बर थे। वह इस बोर्ड के जेनरल सेक्रेटरी भी बना दिये गये थे। इसके बाद ही वह केन्द्रीय (सेण्ट्रल) व्यवस्थापक सभा, असेम्बली के मेम्बर चुने गये और उसकी कांग्रेस पार्टी के उप-नेता चुने गये। असेम्बली में इनकी प्रतिभा के सभी क़ायल थे और सरकारी सदस्य भी इनका बड़ा आदर करते थे।

सन् १९३७ में, नये शासन-विधान के अनुसार युक्त प्रान्त की असेम्बली (बड़ी कौंसिल) और कौंसिल (छोटी कौंसिल) का चुनाव हुआ। इस असेम्बली में कांग्रेसी-दल के लोग बहुत अधिक संख्या में चुने गये थे। जुलाई, १९३७ में प्रान्त के गवर्नर ने आपको बुलाकर कांग्रेस का मंत्रि-मण्डल बनाने का अनुरोध किया। आप ही कांग्रेस दल के नेता थे। पं० गोविन्दबल्लभ पन्त ने मंत्रि-मण्डल की रचना की और स्वयं उसके प्रधान मंत्री बने।

प० गोविन्दबल्लभ पन्त हमारे प्रान्त के दो वर्ष से अधिक तक प्रधान मंत्री रहे और इस बीच में प्रान्त में कितने ही महत्वपूर्ण कार्य हुए, प्रान्त के शासन में अनेकों रद्दोबदल हुए,—कितने ही उपयोगी क़ानून बने—जिनका पूर्ण विवरण देनेका यहां स्थान नहीं है। हमारा प्रान्त यह जानता है कि प्रान्त की इससे अच्छी हुकूमत कभी नहीं हुई। प्रधान मंत्री पन्त ने इतना अधिक परिश्रम किया कि उसके फल स्वरूप वह बहुत बीमार पड़ गये थे

अस्तु, भगवान् करे पन्तजी दीर्घजीवी हों। आज वह भारत के प्रसिद्ध नेता, शासक तथा वक्ता हैं। पण्डित मोतीलाल नेहरू ने उन्हें पहाड़ की ऊँचाई से उतार कर मैदान में सेवा करने की दीक्षा दी थी और पन्त आज भी स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल नेहरू की आज्ञा का पालन कर रहे हैं।

स्वभाव के बड़े नम्र, बच्चों की तरह सरल—परिवार की भावना से युक्त तथा अपने साथियों के साथ कौटुम्बिक जीवन के समान रहने वाले पं० गोविन्दबल्लभ पन्त हमारे प्रान्त की वह विभूति हैं, जिनकी अधिकाधिक कीर्तिकौमुदी की हम सदा कामना करते हैं।

पं० नेहरू

पं० जवाहरलाल नेहरू पं० मोतीलाल नेहरू के एकमात्र पुत्र हैं। मार्गशीर्ष, ७, कृष्ण सं० १९४६ अर्थात् १४ नवम्बर सन् १८८९ में इनका जन्म हुआ था। उस समय पं० मोतीलाल नेहरू की वकालत की प्रतिभा की छाप सारे देश पर जम चुकी थी। वह दोनों हाथों रुपया कमा रहे थे और लुटा रहे थे। उनके खर्च की कोई सीमा न थी। अतएव पुत्र के जन्म पर बड़ी ही धूमधाम के साथ उत्सव मनाया गया।

पं० जवाहरलाल का बचपन बड़े लाड़-प्यार से बीता। वह एक कुशल अंग्रेज़ की देख-रेख में रखे जाते थे। लाड़-प्यार के साथ ही साथ उनकी शिक्षा का भी पूरा ध्यान रखा जाता था।

जब तक उनकी दस वर्ष की उम्र नहीं हुई थी, उनके घर में कोई दूसरी सन्तान न थी। मनुष्य को साथी चाहिये और जवाहर को भी साथ के लिये अपने से कहीं बड़े चचेरे भाइयों अथवा बड़े-बूढ़ों के साथ रहना पड़ता था। माता से इन्हें बड़ा स्नेह था। पिता के लिये भी हृदय में अगाध प्रेम था पर, उनके महान व्यक्तित्व से वह सदैव भयभीत ही रहते। अपने से बड़ों के साथ रहने के कारण बचपन से ही जवाहरलाल की बुद्धि व्यापक तथा ज्ञान का विस्तार साधारण बालकों की तुलना में अधिक हो गया।

जब वह दस वर्ष के हुए, इनके जीवन में दो महत्वपूर्ण घटनायें घटित हुईं। एक तो इनके पिता का नवीन और प्रसिद्ध भवन "आनन्द भवन" बन कर तय्यार हो गया। दूसरे, इन्हें एक बहन पैदा हुई –

से, अपने से एक छोटा साथी पाने की सूचना
प्रसन्न हुए। आनन्द भवन का सुन्दर बाग़ अ
ब इनका चित्त अपनी ओर खींचता था। उधर ब
ं चित्त को आनन्दित कर दिया था।

पं० जवाहरलाल नेहरू

गद ही इनके नये अभिभावक-अध्यापक फ़र्डिने
क्त हुए। ब्रुक्स बड़े विद्वान्, सदाचारी तथा राष्
ज्ञ थे। वह "विश्व-बन्धुत्व" को मानने वाले थि
र श्रीमती एनीबेसेण्ट के अनुयायी थे। जवाहरल
प्रभाव पड़ा। उनकी शिक्षा में एक नवीन जीवन

गया उनकी बुद्धि का विकास और उसकी व्यापकता मे अद्भुत् वृद्धि हुई मि० ब्रुक्स के कारण ही वह श्रीमती बसेण्ट से भी परिचय प्राप्त कर सके और आज तक उनके हृदय में इस देवी के प्रति बड़ा आदर तथा सम्मान है।

पं० जवाहरलाल की १५ वर्ष की उम्र में—मई, सन् १९०५ में, पं० मोतीलाल नेहरू स-कुटुम्ब विलायत गये। जवाहरलाल के लिये यह बड़ा उत्तेजक अवसर था। बचपन से ही अंग्रेज़ धाय तथा शिक्षक के सम्पर्क में रहने के कारण वह अंग्रेज़ी शिक्षा तथा संस्कृति से बहुत कुछ परिचित हो गये थे। अंग्रेज़ी भाषा का उन्हें अच्छा ज्ञान था। अंग्रेज़ों का सा रहन-सहन और खान-पान उनके लिये मामूली बात थी। पर, अंग्रेज़ों के देश में जाने का यह पहला ही अवसर था और उनकी कुशाग्र बुद्धि हरएक वस्तु का अध्ययन करना चाहती थी। पं० मोतीलाल नेहरू उनको हैरो के प्रसिद्ध स्कूल में भर्त्ती कराकर स्वदेश लौट आये। जवाहर को अजनबी लोगों के बीच यह प्रवास पहले तो बहुत अखरा, पर कुछ ही समय में वह अपने विदेशी-जीवन के अभ्यस्त हो गये।

हैरो की पढ़ाई समाप्त कर सन् १९०७ में जवाहर ने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। यहाँ का जीवन बहुत ही चहल-पहल का था और काफ़ी भारतीय छात्र साथी थे। भारत की राजनैतिक प्रगति का ये लोग पूरा अध्ययन करते रहते थे और धीरे-धीरे उनके साथियों को यह मालूम हो गया कि जवाहर के विचार गर्म दल वालों से मिलते-जुलते हैं। उन्हीं दिनों पं० मोतीलाल नेहरू भी राजनीतिक-क्षेत्र में उतर रहे थे। उन्होंने नर्म दल के राजनीतिज्ञों का साथ दिया। सुदूर कैम्ब्रिज में बैठे पं० जवाहरलाल नेहरू को अपने

पिता का नर्म दल वाला बन जाना बहुत अखरा और अपने पिता से उन्होंने अपना विरोध छिपाया भी नहीं।

पं० जवाहरलाल नेहरू के कैम्ब्रिज जीवन के समय कई ऐसे भारतीय छात्र थे जो भारत के इतिहास में प्रसिद्ध व्यक्ति हैं जैसे—स्वर्गीय श्री जे.एम. सेन गुप्त तथा स्व० तसद्दुक़ अहमद खाँ शेरवानी, डा० सय्यदमहमूद, शाह मुहम्मद सुलेमान (सर) इत्यादि।

अस्तु, सन् १६१० में कैम्ब्रिज की परीक्षा—विज्ञान में बी. एस-सी. पास करने के पश्चात् पं० जवाहरलाल नेहरू लन्दन चले आये और दो वर्ष में बैरिस्टरी की परीक्षा पास की। लन्दन के जीवन में वह बहुत शाह-खर्च हो गये थे और इनका अपव्यय देखकर पं० मोतीलाल नेहरू को यह भय हो जाता था कि कहीं लड़का कुमार्ग पर तो नहीं जा रहा है। पर यह कोरा भ्रम था। पं० जवाहरलाल नेहरू का चरित्र सदैव दूध ऐसा स्वच्छ और स्वभाव बालक ऐसा सरल रहा, और है। बचपन के अत्यधिक लाड़-प्यार का उन पर एक ही प्रभाव पड़ा कि वह ज़िद्दी और कुछ चिड़चिड़े से हो गये हैं। कभी-कभी अपनी इच्छा का विरोध उन्हें असह्य हो जाता है। पर एक अत्यन्त उदार, सरल और स्नेही व्यक्ति का यह अवगुण इतना साधारण है कि उसको ध्यान में भी नहीं लाना चाहिये।

सन् १६१२ की गर्मी में जवाहरलाल भारत लौट आये। शिक्षा के लिये वह सात वर्ष तक इङ्गलैण्ड में रहे। इस बीच में वह दो बार छुट्टियों में भारत आकर वापस लौट गये थे। इसी सात बरस के भीतर उन्होंने यूरोप की यात्रा भी समाप्त कर ली थी। सन् १६१० में नारवे में, एक अंग्रेज़ दोस्त के साथ, एक झरने में नहाने गये थे। इनका पैर फिसल गया और पानी का बहाव इन्हें तेज़ी से अपने साथ

ले चला। २०० गज़ के फ़ासले पर वह झरना एक अच्छी ख़ासी ऊँचाई से बहुत नीचे खाई में गिरता था। जवाहरलाल का बचना असम्भव था। पर, इनके अंग्रेज़ मित्र ने बड़ी कठिनाई से इनकी टाँग पकड़ कर बाहर खींच लिया। दैवी-रक्षा इसे ही कहते हैं।

स्वदेश लौट कर, पिता की आज्ञानुसार उन्होंने इलाहाबाद हाई कोर्ट में वकालत शुरू कर दी। पर इनका मन वकालत में कम लगता था और देश-सेवा में अधिक। उसी साल, अर्थात् दिसम्बर की बड़े दिन की छुट्टियों में बाँकीपुर (पटना) में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। पं० जवाहरलाल नेहरू भी एक प्रतिनिधि की हैसियत से उसमें शामिल हुए। वह कांग्रेस इन्हें बहुत नीरस और जीवन-शून्य सी प्रतीत हुई। केवल महामना गोखले का व्यक्तित्व ही इन्हें आकर्षित कर सका। इनकी दृष्टि में वही एक व्यक्ति थे जो सार्वजनिक जीवन को, जनता की सेवा को तथा राजनीति को बड़ी गम्भीरतापूर्वक और बड़ी सच्चाई के साथ अपनाये हुए थे। महामना गोखले का एक बड़ा रोचक क़िस्सा वह बतलाते हैं :—

कांग्रेस अधिवेशन समाप्त होने पर महामना गोखले बांकीपुर से लौट रहे थे। वह बहुत थके हुए थे और एकान्त में आराम करना चाहते थे। उनका डिब्बा रिज़र्व और ख़ाली था। वह बड़े आराम से उसमें लेट गये। उसी ट्रेन से कांग्रेस के प्रतिनिधियों की भीड़ वापस जा रही थी। गाड़ी छूटने के कुछ समय पहले श्री भूपेन्द्रनाथ बसु, जो कुछ काल पश्चात् "इण्डिया कौंसिल" के मेम्बर हुए, उनके पास आये और उस डिब्बे में आसन जमाने की अनुमति चाही। बसु बड़े बकवादी थे पर महामना गोखले बड़े उदार और सरल व्यक्ति थे। उनसे 'न' कहते न बना। बसु महाशय ने अपना आसन जमाने के

पश्चात् पुन पूछा कि 'क्या वह अपने एक मित्र को भी उस डिब्बे मे ला सकते हे महामना गोखले ने फिर 'हाँ कर दिया ट्रेन छूटने के कुछ ही मिनट पहले बसु महाशय ने महामना गोखले से अनुरोध किया कि, 'अच्छा होता यदि आप ऊपर वाली बर्थ पर लेटते और हम दोनों आमने-सामने वाली सीटों पर'। उदार गोखले अपना बिस्तर समेट कर ऊपर चले गये और बसु तथा उनके मित्र आराम से नीचे लेट रहे।

महामना गोखले की ऐसी सादगी, उदारता और महानता का पं० जवाहरलाल नेहरू पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह उनके अनुयायी बन गये और उनकी तरह वह भी विदेशों में रहने वाले भारतीय—प्रवासी भारतीयों के प्रति बड़ी सहानुभूति दिखलाने और उनका कार्य करने लगे। लोकमान्य तिलक इन दिनों जेल में थे अतएव उनसे परिचय कुछ दिनों बाद में हुआ।

सन् १९१४ में यूरोपीय महायुद्ध छिड़ा। उसी समय तिलक भी जेल से छूट आये। श्रीमती एनीबेसेण्ट ने "होम-रूल-लीग" की स्थापना की, पं० जवाहरलाल नेहरू भी उसकी ओर आकृष्ट हुए। भारत में राजनैतिक चहल-पहल बढ़ गयी। श्रीमती एनीबेसेण्ट को नज़रबन्दी की सजा मिली जिससे देश में बड़ी जागृति उत्पन्न हुई। पं० जवाहरलाल नेहरू को भी बड़ा जोश आया। उनकी स्वाभाविक राष्ट्रीय भावना खुल पड़ी। बचे-खुचे नर्म विचार जाते रहे और वह पक्के उग्र विचार के राजनैतिक कार्यकर्त्ता बन गये। सन् १९१५ में, इलाहाबाद की एक सार्वजनिक सभा में जो प्रेस ऐक्ट के विरोध में हुई थी, पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपना पहला सार्वजनिक भाषण दिया। भाषण छोटा था—अंग्रेज़ी में था -पर बहुत ही प्रभावोत्पादक और मार्म्मिक था।

उस व्याख्यान से श्री तेजबहादुर सप्रू (सर और डाक्टर) इतने प्रसन्न हुए कि वहीं सभा मञ्च पर उन्होंने पं० जवाहरलाल नेहरू को अपनी गोद से चिपका लिया और चूमने लगे। यहीं से पं० जवाहरलाल नेहरू के सार्वजनिक-जीवन का प्रारम्भ समझना चाहिये।

सन् १९१६ में उनके जीवन में दो महत्वपूर्ण घटनायें घटित हुईं। इसी वर्ष, वसन्त पञ्चमी के शुभ दिन, दिल्ली में कमला नामक रूपवती, सुशीला तथा गुणज्ञ कन्या के साथ इनका विवाह हुआ। इस विवाह में पिता ने लाखों रुपया ख़र्च किया और बड़ी चहल-पहल रही। कमला वास्तव में कमला थीं। अपने पति की देश-सेवा में यह बहुत अधिक सहायक ही नहीं रहीं अपितु उनकी कमियों की पूर्ति भी करती रहीं। अपने गृह में लक्ष्मी के रूप में, अन्नपूर्णा के रूप में तथा सरस्वती सदृश वह अपना प्रकाश विकसित कर रही थीं। सास-ससुर-पति की सेवा ही इनका परम धर्म था। सभी लोग – परिवार तथा नेहरू कुटुम्ब की मित्र मण्डली एवं भारत का नारी-समाज तथा पुरुष-समाज समान रूप से इन्हें आदर-प्रेम-श्रद्धा तथा श्री के रूप में देखता था। देश-सेवा में इन्होंने जेल-यातनाएँ ही नहीं झेलीं बल्कि अपने पति की बार-बार की जेल-यात्रा और वियोग को छाती पर पत्थर रख कर बर्दाश्त किया। बर्दाश्त करने की भी कोई हद होती है। अन्त में इन्हें क्षयी रोग ने ग्रस लिया। इन्हें चिकित्सा के लिये यूरोप ले जाना पड़ा और वहीं, सन् १९३५ के वर्ष का अन्त होते-होते, उनका भी अन्त हो गया। पहली जनवरी, १९३१ को वह जेल गयी थीं। वहाँ से छूटने के बाद ही उनका स्वास्थ्य ख़राब हो गया था। मई, १९३५ में, भवाली की चिकित्सा से कोई लाभ न होने के कारण वह यूरोप भेज दी गयीं। उस समय पं० जवाहरलाल नेहरू अलमोड़ा जेल में थे। ४ सितम्बर, १९३५ को

वह यकायक जेल से छोड़ दिये गये। श्रीमती कमला नेहरू की हालत अधिक खराब हो गयी। पं० जवाहरलाल नेहरू हवाई जहाज़ से यूरोप गये पर, जर्मनी के एक स्वास्थ्य-प्रद स्थान में उन्होंने अपनी पत्नी को—अपने प्राण से भी अधिक प्रिय वस्तु को—मृत्यु की गोद में जाने के निकट ही पाया। श्रीमती कमला नेहरू की मृत्यु से उन्हें कितना दुःख हुआ—उनको कितनी वेदना हुई, यह लिखना असम्भव है।

अस्तु, १९१६ में दूसरी महत्व पूर्ण घटना पं० जवाहरलाल नेहरू की महात्मा गान्धी से प्रथम भेंट थी। बड़े दिन में लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की तथा बिहार के नील अथवा चाय के खेतों में काम करने वाले कुलियों की महान सेवा करने के बाद, महात्मा गान्धी प्रथम बार कांग्रेस में सम्मिलित हुए थे। पं० जवाहरलाल नेहरू से उनकी यह पहली भेंट थी और आज भारतवर्ष का बच्चा-बच्चा यह जानता है कि इस भेंट से उत्पन्न दोनों की मित्रता, स्नेह तथा आदर का भारत के लिये कितना सुन्दर परिणाम हुआ है। भारत की ये दोनों विभूतियाँ अधिक से अधिक समय तक हमारे देश की सेवा करें, यही हमारी अभिलाषा है। महात्मा गांधी पं० जवाहरलाल नेहरू से अत्यधिक प्रेम करते हैं और वह भी उनका बड़ा आदर करते हैं बड़ी श्रद्धा रखते हैं।

लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर ही श्रीमती सरोजनी नायडू से भी पं० जवाहरलाल नेहरू का परिचय हुआ था और श्रीमती की अमृत-सदृश वाणी से वह बड़े प्रभावित हुए थे।

किन्तु, पं० जवाहरलाल नेहरू का वास्तविक राजनैतिक जीवन सन् १९१९ की अमृतसर कांग्रेस के बाद प्रारम्भ हुआ। उनके उग्र विचारों ने पंडित मोतीलाल नेहरू को भी अपनी ओर खींच लिया था और वह

भी नर्म दल छोड बैठे इसी समय से उनके जीवन मे जवाहर के राजनैतिक जीवन मे जो आधी उठी वह आज तक पूर्ववत् वेग से बह रही है उन्होने न तो स्वय विश्राम लिया हे ओर न अपने मित्रो को लेने दिया है। उनके राजनैतिक विचारों में जो परिवर्त्तन हुए हैं वह साम्यवाद की ओर हैं और अब वह घोर साम्यवादी हैं, अहिंसा और खद्दर के हिमायती हैं तथा राष्ट्रीय सेवा का व्रत लेने की हरएक को सलाह देते हैं। वह रचनात्मक कार्य भी बड़ी लगन से करते हैं। सन् १६३६ में, देश में उद्योग-व्यवसाय की महान उन्नति करने के लिये एक "नैशनल प्लेनिंग कमेटी" की रचना की गयी। उसके अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू हैं और उनके नेतृत्व में यह कमेटी भगीरथ प्रयत्न कर रही है।

देश-सेवा में पहली बार वह सन् १६२१ में जेल गये। इसके बाद वह कई बार जेल हो आये। १६३२-३८ का काल उनके जीवन में बहुत दु:खद था। बड़ी पारिवारिक विपत्तियों का सामना करना पड़ा। कई बार जेल जाना पड़ा। पत्नी का असहनीय बिछोह हुआ। पिता का स्वर्गवास हुआ। कुछ समय बाद माता भी (श्रीमती स्वरूप रानी नेहरू जैसी वीर-हृदया, देश-भक्ता माता भगवान करे सब को मिले) संसार से चल बसी। इसी युग में उनको देशभर का दौरा करना पड़ा। उन्हीं के अथक परिश्रम से सन् १६३७ में संयुक्त प्रान्त मे, कौंसिलों के चुनाव में, कांग्रेस की बहुत बड़ी विजय हुई। कांग्रेस का सभापतित्व आज बहुत क़ीमती और दुर्लभ वस्तु है। किन्तु, जनता के प्यारे नेता, नव-युवकों के प्राण तथा जागृत भारत के प्रतीक पं० जवाहरलाल नेहरू ने तीन बार भारत का राष्ट्रपति का पद ग्रहण किया—सन् १६२६ में लाहौर कांग्रेस के वह अध्यक्ष रहे। इसके बाद,

सन १९३५ मे लखनऊ कांग्रेस के और सन १९३   मे फैजपुर कांग्रेस के लगातार दो साल तक इन्होंने इस महत्व पूर्ण पद को सम्हाला वह वर्षों तक कांग्रेस के प्रधान मंत्री रह चुके हैं और अब भी हैं। अक्तूबर, सन् १९४० में वह पुनः जेल चले गये।

पं० जवाहरलाल नेहरू के राजनैतिक जीवन का इतिहास हमारी आँखों के सामने की चीज़ है। उसको विस्तार के साथ लिखना आवश्यक नहीं है। वह इसी बीच में कई बार इङ्गलैण्ड और यूरोप हो आये हैं और वहाँ के बड़े से बड़े राजनीतिज्ञों से इनका परिचय है। महात्मा गान्धी को छोड़ कर, एक यही ऐसे भारतीय नेता हैं जिनका संसार में सर्वत्र नाम फैला हुआ है।

वह हमारे देश की विभूति और रत्न हैं—हमारे प्रान्त को उन पर उचित गर्व है। हम सभी उस महापुरुष के समान कर्मठ और कर्त्तव्य-शील हों—यही भगवान से प्रार्थना है।

आचार्य्य नरेन्द्रदेव

आचार्य्य नरेन्द्र देव हमारे देश के बहुत सम्मानित नेता हैं। हमारे प्रान्त में इनका बहुत ऊँचा स्थान है। अखिल भारतीय समाजवादी दल के संस्थापकों में से हैं तथा उसके अध्यक्ष भी रह चुके हैं। आजकल वह पुनः समाजवादी दल के सभापति हैं। कांग्रेस के साथ उनका पच्चीस वर्ष से सम्बन्ध है। उसकी सेवा करते-करते आचार्य्यजी कई बार जेल-यात्रा भी कर आये हैं। कांग्रेस की सेवा के ही कारण उन्होंने सन् १९२० में अपनी लाभदायक 'वकालत' छोड़ दी और असहयोग आन्दोलन में शरीक हो गये। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष रह चुके हैं। यह बहुत कुछ सम्भव है कि वह निकट भविष्य में अखिल भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष चुने जायँ।

कांग्रेस के साथ इनका बहुधा मतभेद भी हो जाता है, पर, एकता तथा सामूहिक रूप से कार्य करने की भावना के कारण उन्होंने कभी भी कांग्रेस का न तो साथ छोड़ा, न उसकी शक्ति कमज़ोर होने दी। सन् १९३६ में उन्होंने श्री सम्पूर्णानन्द, मसानी, मेहर-अली आदि के साथ समाजवादी दल की स्थापना की। उस समय लोगों को भय था कि यह दल कांग्रेस से विरोध मोल लेगा। पर, आचार्य नरेन्द्र देव तथा श्री जयप्रकाश नारायण ऐसे योग्य व्यक्तियों के नेतृत्व के कारण इस दल ने कांग्रेस का साथ न छोड़ा। इस दल का उद्देश्य है "देश में अमीर-ग़रीब का भेद-भाव मिटाकर सबके लिये समान रूप से सुख-सामग्री का प्रबन्ध करना।"

ं शु० ८, स० १९४८ को उनका जन्म फ़ैजाबाद
क्षत्री परिवार में हुआ था। सन् १९१३ ई० में
विद्यालय से एम. ए. की परीक्षा पास की और
कालत की परीक्षा पास कर ली। सन् १९१९-२०
द में ही वकालत करते रहे। सन् १९२१ में उन्होंने
लन में भाग लिया और वकालत छोड़ दी।
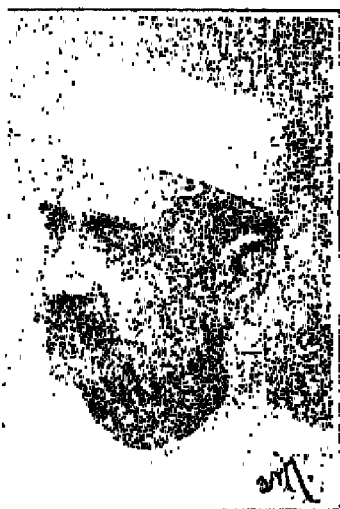
आचार्य नरेन्द्रदेव

न में वह बड़े प्रतिभाशाली छात्र समझे जाते थे।
बड़ी सफलता तथा सम्मान के साथ उत्तीर्ण होते
त के इतिहास का इनका अध्ययन बहुत ही गहरा
है कि भारत के बहुत बड़े इतिहास के पण्डितों में
वकालत का पेशा ग्रहण करने के समय भी उनकी
यापन कार्य करने की थी।

असहयोग आन्दोलन के समय ही काशी के धन कुबेर तथा दानवीर श्री शिवप्रसाद गुप्त ने काशी विद्यापीठ नामक एक स्वतन्त्र विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। यहां पर एम. ए. तक की शिक्षा दी जाती थी और विद्यार्थियों के रहने के लिये भी बहुत अच्छा इन्तज़ाम किया गया था। पढ़ाई की कोई फ़ीस नहीं ली जाती थी। इस विश्वविद्यालय से निकले हुए विद्यार्थी आज देश में चारो ओर फैले हुए हैं और बहुत ऊँचे पदों पर हैं। इस विद्यालय मे श्री सम्पूर्णानन्द, श्री श्रीप्रकाश, श्री योगेश्वर चट्टोपाध्याय, श्री रामशरण, श्री बीरबल, श्री यज्ञनारायण उपाध्याय ऐसे विद्वान् अध्यापन का कार्य करते थे। श्री शिवप्रसाद गुप्त के आग्रह से, श्री नरेन्द्रदेव ने सन् १६२१ में इस कालेज का प्रिन्सिपल (आचार्य) का पद स्वीकार किया और आज यह संस्था जितना ऊँचा और महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकी है, उसका श्रेय बहुत कुछ इन्ही को प्राप्त है। सभी अध्यापक तथा विद्यार्थी इनसे बड़ा अनुराग रखते थे और इनकी आज्ञा पर चलते थे। श्री नरेन्द्रदेव ने १८ वर्ष तक लगातार इस संस्था की सेवा की और अभी दो ही वर्षों से, राजनैतिक कार्यों की अधिकता के कारण उसके आचार्य्य-पद से अवकाश ग्रहण किया है। फिर भी, इस संस्था से उनका घना सम्बन्ध बना हुआ है और अब वह उसके प्रबन्धकों में से हैं।

आचार्य्य नरेन्द्रदेव केवल इतिहास के ही पण्डित नहीं हैं। हरएक विषयों पर उनका अध्ययन बहुत गहरा है। जब कभी अवकाश मिलता है, कोई न कोई गम्भीर विषय लेकर बैठ जाते हैं। वह अंग्रेजी हिन्दी, उर्दू, अरबी, फ़ारसी तथा संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान है। बंगला तथा मराठी भाषा भी जानते हैं। उनके लेखों में, उनके

व्याख्यानों में बड़ा जोश होता है, भाषा बड़ी ओजस्विनी होती है बड़े अच्छे सम्पादक भी हैं हिन्दी का बहुत अच्छा साप्ताहिक तथा समाजवादी दल का मुख-पत्र "संघर्ष" (लखनऊ) इन्हीं ने प्रकाशित किया है तथा वर्षों से उसका सम्पादन कर रहे हैं। इनके लेख हिन्दी, उर्दू, अंग्रेज़ी हरएक भाषा में प्रकाशित होते हैं।

आचार्य्य नरेन्द्रदेव को अनुयायियों की कमी नहीं। इनकी शिष्य-मण्डली ही काफ़ी बड़ी है। स्वभाव के बहुत मधुर तथा हँस-मुख होने के कारण वह हरएक का मन अनायास अपनी ओर खींच लेते हैं। जो उनसे बातें करता है, वह बहुत ही सन्तुष्ट होकर लौटता है।

सन् १९१५ में श्रीमती एनीबेसेण्ट ने होमरूल लीग की स्थापना की थी। उसी समय आचार्य नरेन्द्रदेव के विचार राष्ट्रीय हो गये थे। वह उसमें शामिल हो गये। सन १९१६ में, लखनऊ की कांग्रेस में वह पहली बार शरीक हुए थे और सन् १९१७ से लेकर आजतक वह अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के मेम्बर हैं तथा तीन वर्ष तक कांग्रेस की वर्किङ्ग कमेटी के भी मेम्बर रह चुके हैं।

सन १९३७ में वह युक्त प्रान्तीय लेजिस्लेटिव असेम्बली के मेम्बर चुने गये। जब कांग्रेस ने मंत्रिमण्डल बनाना स्वीकार किया तो आचार्य नरेन्द्रदेव से बड़ा आग्रह किया गया कि वह मंत्रिपद या असेम्बली की अध्यक्षता ही स्वीकार करें। पर, वह इतने निस्पृह व्यक्ति हैं कि उन्होंने इन दोनों पदों को अस्वीकार कर दिया। स्वतंत्र रूप से सदस्य रह कर उन्होंने बहुत काम किया है। किसानों और मजदूरों के लिये इन्होंने इतने अधिक कार्य किये हैं कि यह कहना अनुचित न होगा कि वह हमारे सूबे के सब से बड़े किसान-नेता हैं। किसान-आन्दोलन में उनके सहायक पं० मोहनलाल गौतम का नाम भी उल्लेखनीय है।

अस्तु उनके गुणों की तालिका इतनी लम्बी है कि इस छोटी सी जीवनी में उनका पूर्णतः वर्णन नहीं किया जा सकता है इधर कई वर्षों से वह दमा-रोग से बहुत पीड़ित हैं। इसलिये हम भगवान से प्रार्थना करते हैं कि ऐसे योग्य देश-सेवक को शीघ्र स्वस्थ कर दे ताकि वह अधिक से अधिक देश-सेवा कर सकें।

अभी कुछ दिन हुए, लखनऊ विश्वविद्यालय के वाइस-चान्सलर का पद उन्हें प्राप्त हो रहा था पर उसे भी आचार्य्य नरेन्द्रदेव ने अस्वीकार कर दिया।

कांग्रेस सरकार ने युक्त-प्रान्त के इण्टरमीजियेट तथा सेकेण्डरी एजूकेशन (शिक्षा) प्रणाली को एकदम नये साँचे में ढालने तथा उसके सब दोष निकालने के लिये एक कमेटी बैठायी थी जिसके अध्यक्ष आचार्य नरेन्द्रदेव थे। इस कमेटी की रिपोर्ट बहुत ही गम्भीर तथा पाण्डित्य-पूर्ण है और यदि इसके अनुसार कार्य हुआ तो प्रान्त की शिक्षा में बड़ा प्रभावशाली तथा लाभदायक परिवर्त्तन हो जावेगा। यह रिपोर्ट ही आचार्य नरेन्द्रदेव को शिक्षा-जगत में अमर रखने के लिये पर्य्याप्त है।

श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित

त्यागमूर्त्ति पं० मोतीलाल नेहरू की ज्येष्ठ पुत्री श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित को कौन नहीं जानता। संयुक्त प्रान्त की वह सबसे अग्रणी महिला हैं। यों तो इस प्रान्त की महिलाओं में अनेक ऐसी देवियाँ हैं जो देश-सेवा तथा समाज-सेवा के काम में बहुत आगे बढ़ी हुई हैं तथा जिनका जीवन केवल परोपकार के ही काम में बीतता है पर श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित ने अपनी प्रतिभा तथा अपने परिवार की महत्ता के कारण महिलाओं में सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया है। अन्य उल्लेखनीय देवियों में रानी प्रीतम कुँअर, श्रीमती पूर्णिमा बैनर्जी, डा० बी. थुंगम्मा, बेगम ऐजाज़ रसूल, श्रीमती उमा नेहरू, लेडी वज़ीर हसन आदि के नाम भी स्मरण रखने योग्य हैं।

रूप में, विद्या में, बुद्धि में हर दृष्टि से श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित श्रेष्ठ हैं। उनके अनुयायियों, उपासकों तथा अनुकरण करने वालों की कमी नहीं है। उनके पति श्री आर. एस. पण्डित संयुक्त प्रान्तीय लेजिस्लेटिव असेम्बली के मेम्बर हैं। श्री पण्डित बड़े अच्छे कार्यकर्त्ता तथा विद्वान् हैं। संस्कृत, अंग्रेज़ी तथा फ्रेञ्च भाषा का उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान है। कल्हण (काश्मीर के प्रसिद्ध विद्वान्) की लिखी "राजतरङ्गिणी" का उन्होंने अंग्रेज़ी-हिन्दी में अनुवाद किया है। यह पढ़ने योग्य ग्रन्थ है।

श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित ने देश-भक्ति का पाठ अपने पिता और भाई जवाहरलाल नेहरू दोनों से सीखा है। वह अपनी भावज अर्थात् पं० जवाहरलाल नेहरू की पत्नी श्रीमती कमला नेहरू की सच्ची सहायिका

तथा सखी थीं। दोनों में बड़ा अनुराग था। अपनी पत्नी की बीमारी में तथा उनकी मृत्यु के पश्चात्, पं० जवाहरलाल नेहरू को विजयलक्ष्मी जैसी स्नेहशीला बहन से बड़ी प्रेमपूर्ण पारिवारिक सहायता मिलती रही है। दोनों भाई-बहन एक-दूसरे के बहुत निकट हैं।

श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित में भारतीय आदर्श तथा नारी के नारीत्व के प्रति जितनी श्रद्धा तथा अभिमान है, उतना ही, अंग्रेज़ी सभ्यता और शिष्टता के प्रति स्नेह। इसीलिये उनके मित्रों में अंग्रेज़ महिलाओं तथा पुरुषों की भी संख्या कम नहीं है। कुछ लोग उनकी इस प्रकार की "अंग्रेज़ियत" की शिकायत करते हैं — पर यह भ्रम है। हिन्दू-नारी-सुलभ गुणों का उनमें अभाव नहीं है। परिवार से उनको बड़ा स्नेह है। अपनी दो कन्याओं को वह आदर्श शिक्षा दे रही हैं

वह यूरोप की यात्रा तीन बार कर चुकी हैं। सन् १९२६ के मार्च महीने में, जब श्रीमती कमला नेहरू की बीमारी के समय पं० जवाहरलाल नेहरू यूरोप गये थे तब उनके साथ श्रीमती विजयलक्ष्मी और उनके पति श्री आर. एस. पण्डित भी गये थे। अभी दो वर्ष पूर्व जब विलायत में, पं० जवाहरलाल नेहरू की पुत्री इन्दिरा देवी बहुत बीमार हो गयी थीं, तब भी श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित हवाई जहाज़ द्वारा विदेश गयी थीं।

स्वदेश-सेवा के कार्य में वह दो बार जेल-यात्रा कर आयी हैं। सदैव खद्दर पहनती हैं और वह भी बहुत बढ़िया। स्वभाव मधुर और बहुत मिलनसार है। जो भी कोई मिलने जाता है, उनकी मीठी-मीठी बातों से आकर्षित हुए बिना नहीं रहता। यथाशक्य वह प्रत्येक व्यक्ति का कार्य कर देने की चेष्टा करती हैं।

३५ वर्ष की उम्र में, श्रीमती पण्डित ने जितना महत्व पूर्ण पद प्राप्त किया है उतना कम महिलाओं को प्राप्त होगा। बचपन जितना ही

साथ बीता था, अब जवानी देश-हित के लिये उ
ने में बीतती है। किसानों के लिये—मज़दूरों के
घूमती फिरती हैं। सन् १९३७ के प्रान्तीय अ
कानपुर ज़िले के निर्वाचन-क्षेत्र से वह अत्यधिक
। यह उनकी लोक-प्रियता का ही परिणाम था

श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित

७ की जुलाई में जब कांग्रेस सरकार बनी तथा प्र
कांग्रेस वालों के हाथ में आया तब उस समय
पण्डित "स्वास्थ्य विभाग तथा स्थानीय स्वायत्त
मंत्रिणी नियुक्त की गयी थीं। उन्होंने बड़ी योग्यता

अपना पद सम्हाला और उसकी बहुत सी बुराइयों को दूर किया था उनके कार्यों की प्रशंसा में, सरकारी रिपोर्ट में लिखा है :—

"स्वास्थ्य-विभाग में, ग्रामों में पीने के लिये पानी का प्रबन्ध करने के लिये कूँए बनवाने के लिये ३५,०००) रुपये की मञ्जूरी दी गयी है। मैलेरिया निवारण के लिये ४०,०००) रुपये की मञ्जूरी दी गयी है। सरकार को मालूम हुआ है कि हमारे प्रान्त के ३५ ज़िलों के १,६६२ ग्रामों में पानी पीने के लिये कुओं की आवश्यकता है। हरएक ग्राम में एक कुँआ बनाने में ५००) रुपया लगेगा। दो वर्ष में हर गाँव मे एक कुँआ बन जावेगा।

···ग्राम के दवाख़ानों में दवा इत्यादि का सामान बढ़ाने के लिये ३७,५००) रुपये की मञ्जूरी दी गयी है।···म्युनिसिपैलिटी और ज़िला बोर्ड के क़ानून ही फिर से बनाये जाने वाले हैं और वोट देने वालों की संख्या बढ़ाई जाने वाली है।"

अस्तु, अपने ढाई वर्ष के कार्यकाल में श्रीमती पण्डित ने अपने महक़मों में बहुत-कुछ सुधार कार्य किया। बड़े से लेकर छोटे अफ़सर तक उनसे प्रसन्न तथा सन्तुष्ट थे। मन्त्रि-पद ग्रहण करने के पूर्व वह इलाहाबाद म्यूनिसिपैलिटी की मेम्बर थीं। यहाँ भी उन्होंने बहुत काम किया था।

श्रीमती पण्डित इलाहाबाद में ही रहती हैं। उनका पारिवारिक-जीवन सादा और सुखी है। सुन्दर वस्तुओं से उन्हें प्रेम है। फूल, बाग़, संगीत आदि कला-पूर्ण वस्तुओं में उनकी अभिरुचि है। वह किसी को उदास तथा निरुद्यमी नहीं देखना चाहतीं। हरएक से यह आशा करती हैं कि वह अपने जीवन का हरएक क्षण उपयोगी तथा फलदायक बनाये।

श्री सम्पूर्णानन्द

उद्योग, अध्ययन तथा परिश्रम से मनुष्य कितनी उन्नति कर सकता है तथा योग्य व्यक्ति की योग्यता से दुनियां स्वयं लाभ उठाने की चेष्टा करती है—इसके प्रत्यक्ष उदाहरण श्री सम्पूर्णानन्द हैं।

सन् १८९९ में, बनारस के एक बहुत ही प्रतिष्ठित कायस्थ वंश में इन का जन्म हुआ था। इनके पूर्वजों का काशी के स्वतन्त्र राज्य से घनिष्ट सम्बन्ध था और वारेन हेस्टिंग्स के ज़माने में, बनारस के स्वाधीन नरेश, महाराजा चेतसिंह के प्रतिभाशाली मंत्री बख़्शी सदानन्दजी इस वंश के प्रमुख तथा प्रसिद्ध व्यक्ति हो गये हैं। बनारस में अंग्रेज़ी हुकूमत स्थापित होने के बाद, इस परिवार का काशी-नरेशों से अधिक दिनों तक सम्बन्ध न चला और क्रमशः उसका धन-वैभव भी लुप्त हो गया।

किन्तु, एक वस्तु न लोप हो सकी—और वह थी इस वंश के हरएक व्यक्ति की सच्चरित्रता और बौद्धिक प्रतिभा। श्री सम्पूर्णानन्द के पिता मुंशी विजयानन्द ने साधारण वेतन पर सरकारी नौकरी शुरू की थी और धीरे-धीरे वह बनारस डिवीज़न के कमिश्नर के सहायक तथा 'सरिश्तेदार' के महत्वपूर्ण पद पर पहुँचे थे। कमिश्नर-कलक्टर सभी इन्हें बहुत मानते थे और बनारस कमिश्नरी मात्र में वह अपनी ईमान्दारी और धार्मिकता के लिये प्रसिद्ध थे।

पिता की धार्मिकता, ईमान्दारी तथा अध्यवसाय का बालक सम्पूर्णानन्द पर बहुत प्रभाव पड़ा। इनकी शिक्षा की देख रेख पिता स्वयं करते थे और काफ़ी कठोर अनुशासन में रखते थे।

बचपन से ही बुद्धि बहुत कुशाग्र थी पढने लिखने के अलावा और कोई व्यसन नहीं था खाने पीने की भी सुध न रहती थी इसलिये इनकी माता श्रीमती आनन्दी देवी को इनकी काफ़ी हिफ़ाज़त करनी पड़ती थी।

१८ वर्ष की उम्र में ही इन्होंने बी. एस-सी. की परीक्षा पास कर ली। क्वीन्स कालेज के विख्यात प्रिंसिपल वेनिस, अध्यापक मैकेञ्जी (जो बाद में युक्तप्रान्तीय शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर हो गये थे) इन्हें बहुत मानते थे। एक ओर यह गणित तथा विज्ञान पढ़ते थे, दूसरी ओर घर पर संस्कृत का भी अध्ययन करते थे। फ़ारसी पहले ही पढ़ रखा था। फलतः कालेज छोड़ते-छोड़ते अंग्रेजी-संस्कृत-फ़ारसी के विद्वान् हो गये। एक वर्ष और पढ़कर एल.टी. की परीक्षा भी पास कर ली।

शिक्षा समाप्त कर इन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा स्थापित, बनारस के हरिश्चन्द्र हाईस्कूल में अध्यापक का कार्य शुरू किया। कुछ समय तक लन्दन मिशन हाईस्कूल में भी अध्यापक रहे। सन १९१३ में राजा महेन्द्रप्रताप ने प्रेम महाविद्यालय, वृन्दावन में विज्ञान के प्रोफ़ेसर पद पर इन्हें बुला लिया। कुछ समय बाद वे डेली कालेज, इन्दौर में (जो राजकुमारों का विद्यालय था) गणित के प्रोफ़ेसर हो गये। यहां कार्य करते समय इनको कई राजकुमारों का अभि-भावक बनना पड़ा था। उनकी सादगी, सिधाई, सचाई और सच्चरित्रता की इसी समय इतनी ख्याति हो गयी थी कि अनेक देशी नरेश अपने राजकुमारों को उनकी देख-रेख में छोड़ देना चाहते थे। डेली कालेज, इन्दौर में उनके कार्यों की काफ़ी प्रशंसा हुई। महाराज बीकानेर ने सन् १९१८ में डूँगर कालेज का प्रिंसिपल बनाकर बीकानेर

हां पर उन्होंने सन् १६२१ तक कार्य किया तथा उ
गांधी के आदेशानुसार, नौकरी से इस्तीफ़ा दे
दोलन में सम्मिलित होने के लिये बनारस चले आये
कांग्रेस कमेटी को एक बड़ा महत्वपूर्ण तथा उपयो
।। कमेटी ने शीघ्र ही इनको अपना मंत्री नियु

श्री सम्पूर्णानन्द

दिनों काशी में, कांग्रेस कार्य में डा० भगवानदा
स, श्री श्रीप्रकाश प्रभृति व्यक्ति अग्रणी थे। श्री सम्पूर्ण
ग ने सोने में सुहागे का काम किया। अस
दोलन में जेल जाने वाले वह प्रथम व्यक्ति थे। इस

अतिरिक्त, १९३१ तथा १९३२ में सत्याग्रह आन्दोलन में भी वह दो बार जेल गये और लम्बी सज़ायें काटीं।

राजनैतिक जीवन में श्री सम्पूर्णानन्द की सब से अधिक ख्याति उस समय हुई जब उन्होंने श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय, आचार्य्य नरेन्द्रदेव, यूसुफ़ मेहरअली, मि० मसानी तथा श्री जय प्रकाश नारायण इत्यादि के साथ मिलकर कांग्रेस साम्यवादी दल की स्थापना की तथा उसके बम्बई वाले प्रथम महाधिवेशन में सन् १९३९ में सभापति हुए। तब से वह साम्यवादी दल के प्रथम-श्रेणी के नेताओं में हैं और भारत में उनके अनुयायियों की संख्या प्रचुर मात्रा में पाई जाती है।

एक अध्यापक और उसके बाद देश की सेवा में राजनैतिक व्रत लेने वाले त्यागी व्यक्ति तथा देश की सेवा के लिये अपनी आमदनी को लात मार कर एक ग़रीब आदमी सा समस्यामय जीवन बिताने के कारण आज देश में उनका बड़ा आदर है, राजकीय कार्य मे, शासक के रूप में भी उन्होंने बहुत अधिक ख्याति प्राप्त की है। सन् १९२३-२४-२५ में वह काशी म्युनिसिपल बोर्ड के बहुत परिश्रमी सदस्य थे तथा इन्हीं तीन वर्षों में बोर्ड की चुंगी कमेटी, शिक्षा-कमेटी तथा स्वास्थ्य कमेटी के क्रमशः चेयरमैन भी थे। इसी ज़माने में वह बोर्ड के कुछ समय तक अवैतनिक चुंगी-सुपरिन्टेण्डेण्ट, हेल्थ अफ़सर तथा शिक्षा-सुपरिन्टेण्डेण्ट भी रह चुके हैं। बोर्ड के कम मेम्बर ही इतने पदों का अनुभव प्राप्त करने का अवसर पा सकते हैं। सन् १९२७ में युक्त प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में स्वराज्य-पार्टी की ओर से, बनारस-शहर से वह मेम्बर चुने गये और निर्वाचन में अत्यधिक मत से विजयी हुए। कौंसिल में वह स्वराज्य पार्टी के "चीफ़ ह्वीप" तथा

मंत्री थे। उस समय स्कूल-कालेजों में सैनिक-शिक्षा देने का प्रस्ताव पास करा कर वह जनता के अधिक कृपा-पात्र बन गये थे। कौंसिल के इनके व्याख्यानों को सरकारी-पक्ष बड़े आदर और सम्मान से सुना करता था।

नये शासन-विधान के अनुसार, युक्त प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा दो भागों में विभक्त हो गयी। आम-सभा का नाम "असेम्बली" हो गया। इसका चुनाव सन् १९३७ के फ़ेब्रुअरी महीने में हुआ। श्री सम्पूर्णानन्द बनारस शहर से कांग्रेस-दल के उम्मीदवार थे और हज़ारों वोट से अपने प्रतिद्वन्दी को हराकर चुने गये थे। जूलाई, सन् १९३७ में कांग्रेस ने प्रान्त का शासन भार अपने हाथ में लिया। श्री सम्पूर्णानन्द से मंत्री बनने का अनुरोध किया गया। किन्तु, इन्होंने किन्हीं कारणों से अस्वीकार कर दिया। पर, कुछ महीने बाद, मित्रों के आग्रह तथा कांग्रेस पार्टी के अनुरोध से मंत्री-पद स्वीकार कर लिया और गवर्नर ने इन्हें शिक्षा-मंत्री नियुक्त किया। भारत में यही एक मात्र तथा सर्व-प्रथम साम्यवादी मंत्री थे। शिक्षा मंत्री के रूप में इन्होंने युक्त प्रान्त की शिक्षा में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन किया। शिक्षा की प्रणाली को यूरोप के अच्छे से अच्छे शिक्षा-विज्ञान के ढंग पर चलाया तथा प्रान्त में निरक्षरता निवारण, ग्रामों में शिक्षा-प्रचार और अविद्या के नाश का इतने ज़ोरों का प्रयत्न किया गया कि थोड़े ही समय में हमारे प्रान्त में लाखों अपढ़ स्त्री-पुरुष-बच्चे, पढ़े-लिखे बन गये। भारत के सभी प्रान्तों ने इनकी शिक्षा-योजना की तारीफ़ ही नहीं की, अनुकरण भी करने लगे और कुछ ही समय बाद भारत के सब से महान तथा विद्वान "शिक्षा-मन्त्री" होने का गौरव इन्हें प्राप्त हुआ। संयुक्त प्रान्त के ग्रामों

में सरकारी पुस्तकालय खुल गये, रेडियो लग गए, रात्रि-पाठशालायें खुल गयीं और देश-सेवक अध्यापक नियुक्त हो गये।

श्री सम्पूर्णानन्द "नगर-सुधार विभाग" (टाउन इम्प्रूवमेण्ट) और "चरित्र-सुधार" तथा "धर्मादा-विभाग" के भी मन्त्री थे और इन विभागों में भी बहुत काम हुआ। सन् १९३९ में वह स्थानापन्न अर्थ मन्त्री भी बनाये गये और प्रान्त के बजट पर इनका जो व्याख्यान हुआ था उसने यह सिद्ध कर दिया कि वह शिक्षा-जगत् में ही नहीं, अर्थ-शास्त्र में भी कितना ज्ञान रखते हैं। सन् १९३९ में कांग्रेस ने प्रान्तीय शासन छोड़ दिया अतएव अपनी नयी तथा अत्यन्त उपयोगी योजनाओं को अधूरी ही छोड़ कर श्री सम्पूर्णानन्द को भी मन्त्रि-पद से अलग होना पड़ा।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि किस प्रकार एक साधारण अध्यापक शिक्षा-विभाग का सब से बड़ा पदाधिकारी—अर्थात् शिक्षा-मन्त्री बन गया! मानवी-जीवन की यही महत्ता है। कर्त्तव्य-शीलता तथा परिश्रम, त्याग एवं तपस्या, लगन और धुन से संसार में क्या नहीं हो सकता।

किन्तु, हमारे चरित-नायक के जीवन में कई और पहलू हैं जिनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। सब से अधिक जानने योग्य बात उनका धर्म्म-प्रेम है। बचपन से ही पिताजी के सदुपदेशों तथा पूजा-पाठ ने उन्हें बड़ा धार्मिक बना दिया था। युवा होते ही वह अपने नाना, प्रसिद्ध योगिराज श्री रामेश्वरदयाल के सम्पर्क में आ गये। श्री रामेश्वरदयाल साधु होने के पहले काशी नरेश महाराजा श्री ईश्वरी नारायण सिंह के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। मनुष्य जीवन की निस्सारता तथा संसार की अस्थिरता का ज्ञान होते ही

उन्हें वैराग्य हो गया और वह दुनियाँ से मुँह मोड़कर साधु हो गये। एकान्त में रहते थे—दिन में केवल एक बार भोजन करते थे और रात-दिन ईश्वर का भजन किया करते थे। उन्होंने अपने गुरु से योगिक-क्रियाओं का भी ज्ञान प्राप्त किया था। श्री सम्पूर्णानन्द से उन्हें बड़ा स्नेह था और उनकी वैराग्य-वृत्ति तथा चित्त की निर्मलता देखकर उन्होंने इनको भी अपना शिष्य बना लिया किन्तु, गृहस्थाश्रम छोड़कर साधु बनने की आज्ञा न दी। पर, इनका मन तो दुनियाँ से ऊबा हुआ था और वह साधु बनना चाहते थे अतः जिस समय यह बी. ए. में पढ़ते थे, एक दिन घर-द्वार छोड़कर किसी साधु के साथ भाग निकले। पिताजी को जब पता चला तो वह बड़े चिन्तित हुए और बड़ी कठिनाई से इन्हें खोज निकाला और समझा-बुझाकर घर ले आये।

पर, मन की संसार से उदासीनता और विरक्ति बनी रही। गुरु से सिद्ध योगिक-क्रिया की दीक्षा मिल चुकी थी अतः उसी का अभ्यास करते और जब कभी अवकाश मिलता, गुरु का सत्संग करते। इस सत्संग का इनके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यह स्वयं "निर्वाण" के पद बनाते और गाते। इस प्रकार संसार में इनका जीवन जल में कमल के समान व्यतीत होता है। जिस प्रकार पानी में पड़े हुए कमल के ऊपर एक बूँद पानी नहीं टिकता उसी प्रकार श्री सम्पूर्णानन्द भी संसार से विरक्त गृहस्थ हैं। संसार की माया इन्हें नहीं व्यापती। देश की सेवा करते हुए भी वह किसी माया-ममता के शिकार नहीं होते।

अस्तु, इनके गुरु श्री रामेश्वरदयाल ने इन को जो उपदेश दिये थे, उसको वह आज भी चरितार्थ कर रहे हैं। गुरु का साथ, सौभाग्य

से, तीस वर्ष से अधिक का ही रहा। लगभग सौ वर्ष की अवस्था प्राप्त कर, इन्हीं की गोद में मई, १९४० में गुरु ने महालोक को प्रयाण किया और उनके सर्व-प्रधान शिष्य होने के कारण, उनके शिष्यों ने इन्हें ही अपना प्रधान तथा गुरु का उत्तराधिकारी स्वीकार किया है।

धार्मिक रूप से हमारे चरितनायक शुद्ध सनातन धर्मी हैं और उसके पूर्ण प्रचार में विश्वास करते हैं। सनातन-धर्म के प्रचार तथा साथ ही उचित शिक्षा देने के उद्देश्य से, अपने मित्र स्व० श्री बृजपाल-दास तथा पं० मदनमोहन शास्त्री के सहयोग से श्री सम्पूर्णानन्द ने, आज से २५ वर्ष पूर्व श्री सनातन धर्म पाठशाला की स्थापना की थी जो आज श्री सनातन धर्म हाईस्कूल (बनारस) के नाम से विख्यात है और जिसकी शानदार इमारत बनारस के बेनिया पार्क के पास बनी हुई है। इस 'पाठशाला' की अवैतनिक रूप से, वर्षों तक सेवा कर श्री सम्पूर्णानन्द ने उसको इतनी बड़ी संस्था बनने का मार्ग प्रशस्त किया।

किन्तु, वह ऐसे सनातन-धर्म्मी भी नहीं कि समाज की नयी आव-श्यकताओं से नेत्र मूँद लें। बाल-विवाह का विरोध, विधवा-विवाह का समर्थन, अछूतोद्धार के आन्दोलन में हार्दिक सहयोग इत्यादि कार्यों द्वारा वह अनेक जड़ सनातनियों के क्रोध-भाजन भी बन चुके हैं। अपने एक सम्बन्धी का विधवा-विवाह उन्होंने स्वयं ही कराया और उनके इस कार्य से उनकी जाति में काफ़ी हलचल मच गयी थी।

इसी प्रकार, धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त, हिन्दू संगठन के कार्य से वह विमुख न थे और जब तक हिन्दू-सभा राजनैतिक-प्रगति में उनके विचार के प्रतिकूल कार्य नहीं करती थी, बराबर उसके साथ रहे। बनारस-हिन्दू-सभा के वह सभापति भी रह चुके हैं।

अब हम श्री सम्पूर्णानन्द के जीवन के एक ऐसे पहलू पर प्रकाश डालेंगे जो स्वयं उनकी दृष्टि से भी, उनके कार्यों में सब से अधिक महत्ता रखता है। उनका कहना है कि "राजनैतिक-जीवन में मुझे ज़रा भी रुचि नहीं है। देश की हालत देखकर मजबूरन राजनीति में भाग लेना पड़ता है। अन्यथा, विद्या मेरा व्यसन है। पुस्तकें मेरी संगिनी है। लिखना-पढ़ना ही मेरा मनो-विनोद है।"

वास्तव में, यह बात सत्य है। वह इतना अधिक पढ़ते हैं कि सभी विषयों में उनका गहरा प्रवेश है। डूँगर-कालेज की नौकरी छोड़ने के डेढ़ वर्ष के बाद ही, उनकी विद्वत्ता देखकर डा० भगवानदास ने अपने विद्यापीठ में उन्हें दर्शन-शास्त्र का प्रोफ़ेसर नियुक्त किया। विज्ञान का विद्यार्थी दर्शन-शास्त्र का प्रोफ़ेसर हो गया। पन्द्रह वर्ष से अधिक ही वह इस पद को सुशोभित करते रहे। बहुत अधिक सार्वजनिक कार्य करने के साथ ही बहुत अधिक पढ़ने के कारण सन १९२९ में उनको मानसिक-रोग हो गया और कभी-कभी विक्षिप्त-से हो जाते थे। उस समय डाक्टरों ने यही सलाह दी कि पढ़ना बन्द कर दो। पर, इन्होंने कई वर्ष तक बीमारी झेला पर पढ़ना बन्द नहीं किया। उसी बीमारी के ज़माने में युक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के प्रधान मंत्री, विद्यापीठ के प्रोफ़ेसर तथा काशी से निकलने-वाले अंग्रेज़ी दैनिक "टु-डे" के सम्पादक का काम भी क्रमशः होता रहा।

अंग्रेज़ी स्कूल में मास्टर का काम प्रारम्भ करने के साथ ही इनके साहित्यिक जीवन का भी प्रारम्भ होता है। इनके पुराने साहित्यिक मित्रों में पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे का नाम उल्लेखनीय है जो पहले बनारस में ही रहते थे और "नवनीत" नामक मासिक पत्र निकालते

थे। श्री सम्पूर्णानन्द की पहली, महत्वपूर्ण, रोचक पुस्तक महात्मा गान्धी की जीवनी है। उस समय महात्मा गान्धी को "महात्मा" की उपाधि नहीं मिली थी। इन्होंने उनको "कर्मवीर" की उपाधि दी। इसके बाद वह प्रसिद्ध मासिक तथा दैनिक पत्रों में लेख लिखने लगे। कानपुर की "प्रभा" तथा जबलपुर की "श्री शारदा" में इनके लेखों की भरमार है। इनकी लिखी पुस्तकों की गणना दो दर्जन के लगभग है और वे भिन्न भिन्न विषयों पर हैं। विज्ञान के लिये "भौतिक-विज्ञान", इतिहास मे "मिश्र की स्वाधीनता का इतिहास" तथा "चीन की राज्यक्रान्ति", जीवनी में "महाराजा छत्रसाल" और "महादजी सिंधिया" राजनीति में "अन्तरराष्ट्रीय विधान" तथा "व्यक्ति और राज" आदि भारत-प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। इनकी लिखी "साम्यवाद" अपने विषय पर सबसे अच्छी पुस्तक समझी जाती है और सबसे नवीन ग्रन्थ, जो अगस्त १९४० में लिखा गया है—"सप्त-सैंधव" की तुलना विश्व के महाग्रन्थों में होगी। किन्तु, सभी पुस्तकें हिन्दी में हैं। हिन्दी के प्रगाढ़ प्रेमी होने के कारण वह अपने ज्ञान और परिश्रम का वरदान अपनी भाषा को ही देना चाहते हैं।

केवल लेखक के रूप में ही नहीं, कुशल सम्पादक के नाते भी उनका यश प्रसिद्ध है। मासिक पत्रिका "मर्यादा" का वह दो वर्षों तक सम्पादन करते रहे। दैनिक "टु-डे" नामक अंग्रेज़ी पत्र तथा दैनिक "आज" का भी सम्पादन कर चुके हैं।

अस्तु, हम इस महापुरुष के जीवन की कहानी अधिक विस्तृत नहीं बनाना चाहते। स्थानाभाव से जीवन की रोचक घटनायें भी नहीं दी जा सकतीं। स्वभाव से बहुत ही गम्भीर तथा आत्म-विज्ञापन के विरोधी होने के कारण उनके विषय में लोगों को विशेष

मालूम भी नहीं है। उनकी गम्भीरता तथा विद्या से पं० मोतीलाल नेहरू ऐसे महापुरुष भी बहुत प्रभावित हुए थे। पंडितजी ने उन्हे अपना सेक्रेटरी भी बनाया था। भारत की सैनिक परिस्थिति की जाँच के लिये सरकार ने स्कीन कमेटी की रचना की थी। पंडितजी उसके मेम्बर थे। उस समय पंडितजी की प्रभावली तथा विषय की गहरी जानकारी से भारत-सरकार के उच्च सैनिक तथा सिविल पदाधिकारी बड़े प्रभावित हुए थे। पर, पंडितजी साफ़ कह देते थे कि 'यह सब मेरे सेक्रेटरी के अध्ययन का फल है।'

अस्तु, श्री सम्पूर्णानन्द का पारिवारिक जीवन बड़ा दुःखी रहा है। ग्यारह सन्तानों में से ८ का देहान्त हो गया। तीन स्त्रियों का देहान्त हो गया। एक जवान लड़का जाता रहा। इनका ज्येष्ठ पुत्र श्री सर्वदानन्द हिन्दी का प्रतिभाशाली लेखक और कवि है। इनके छोटे भाई श्री अन्नपूर्णानन्द हिन्दी-भाषा में हास्य-रस के सर्व-श्रेष्ठ लेखक हैं।

आर्थिक दृष्टि से भी उनको सदैव संकट का ही सामना करना पड़ा। इसका कारण विद्या तथा धन का, लक्ष्मी तथा सरस्वती का स्वाभाविक वैर ही कहा जा सकता है। प्रायः देखा गया है कि विद्वानों को सांसारिक-सुख नहीं होता पर इससे उन विद्वानों की महत्ता ही बढ़ती है। श्री सम्पूर्णानन्द ऐसे महापुरुष बिरले ही जन्म लेते हैं। वे इस लोक में नया आदर्श उपस्थित करने के लिये आते हैं, न कि स्वयं सुख उठाने के लिये। ईश्वर उनको चिरायु करे ताकि अपनी जननी-जन्मभूमि की अत्यधिक सेवा कर सकें।

श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी

२६ जनवरी, १६३१ को श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी ने अपनी जेल की डायरी में लिखा था—"जीवन भर अमानुषिकता, असज्जनता के विरुद्ध लड़ता रहा। ईश्वर बल दे कि आगे भी लड़ सकूँ।" विद्यार्थीजी के जीवन का यही मूल-मंत्र था। उन्होंने सदैव इसी मंत्र के अनुसार कार्य करने का प्रयास किया और अन्याय, अत्याचार, वैर-विरोध तथा आपस की लड़ाई से सदैव संघर्ष करते रहे। वह सदा के दरिद्र, रुपये-पैसे की कमी से परेशान और जीवन की, परिवार की तथा देश की समस्याओं से उलझन में फँसे रहते थे। पर, एक दिन भी सुख की नींद न सोने वाला वह सिपाही अपने कांटों के पलंग पर भी बड़े आनन्द का अनुभव करता था; उसने कभी भी लेशमात्र पीड़ा का अनुभव न किया। वह हृदय से बादशाह था। ग़रीबों, कंगालों और बेकसों की सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग कर देना ही उसका धर्म था।

विद्यार्थीजी हमारे देश के बहुत बड़े पत्रकारों में से थे। हिन्दी भाषा तथा हिन्दी के समाचार-पत्रों का उन्होंने अत्यधिक कल्याण किया है। उसको नवीन साँचे में, सच्चाई तथा निर्भीकता के साँचे में ढाला है। बोलचाल की भाषा में निडर लेख लिख कर वह देहातों के किसानों तक अपनी आवाज़ पहुँचा देते थे। उनके लेखों से हमारे ग्रामों में बड़ी जागृति हुई। सोया हुआ किसान वर्ग अपना अधिकार पहचान बैठा। उनके लेख बड़े चाव से पढ़े जाते थे और साफ़-साफ़ बातें लिखने के लिये उनको कई बार जेल भी जाना पड़ा था—पर वह अपने कर्त्तव्य-पथ से न डिगे।

में उन्होंने हमारे प्रान्त का प्रसिद्ध पत्र "प्रताप"
उस समय अखबारों की बहुत कम पूछ थी। स्वतंत्र
बारों का पनपना बहुत कठिन बात थी। पर, बड़ी
पस्या से विद्यार्थीजी ने अपने "प्रताप" को पाला-
या। अखबार में बराबर घाटा होते रहने के कारण उसे
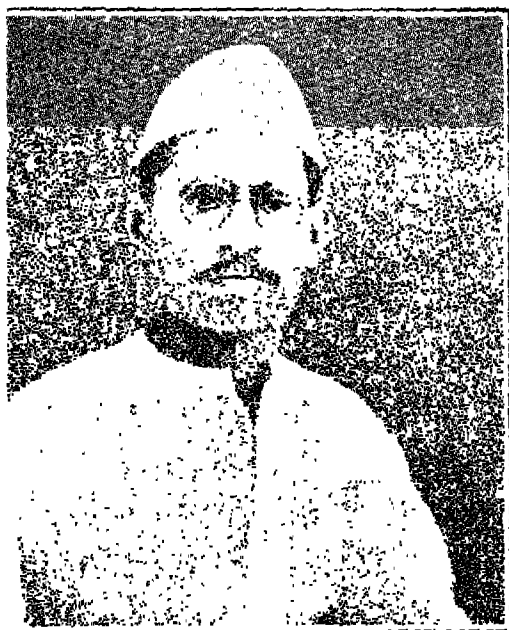
श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी

स के मज़दूरों की मज़दूरी देना भी मुश्किल पड़ जाता
वह न घबड़ाये और आज उनकी धुन का ही फल है कि
दैनिक तथा साप्ताहिक, दोनों रूप में प्रकाशित होता है
उसका बड़ा सम्मान है। आजकल इस पत्र के सञ्चालक
श्री विद्यार्थीजी के ही सुपुत्र श्री हरिशङ्करजी विद्यार्थी हैं।

विद्यार्थीजी "अखबारों के कीड़े थे"। सुबह उनको दैनिक अखबारों के मिलने में देरी हो जाती तो पैदल स्टेशन पहुँच जाते और वहां से अखबार खरीद कर पढ़ते थे। वह बड़े अध्ययन-शील थे। ज़रा भी अवकाश मिलने पर अखबारों अथवा पुस्तकों को पढ़ने लगते।

स्वभाव के बड़े मधुर और प्रेमी जीव थे। मित्रों का बड़ा आदर करते थे। उनके लिये जान तक देने के लिये तय्यार रहते थे। नवयुवकों की बेकारी तथा कठिनाइयों का उन्हें बड़ा ध्यान रहता था। कभी भी उनके पास जाकर कोई निरुत्साह नहीं लौटता था। हरएक की कठिनाई को बड़े ध्यान से सुनते और उसकी सहायता करते। अपने तथा अपने परिवार के सुख को इन्होंने कभी महत्व नहीं दिया। कहा करते थे कि "अपने लिये तो संसार जीता है; मैं दूसरों के लिये जीना चाहता हूँ।" जब कोई यह समझाता कि आप अपने बच्चों की खोज-खबर नहीं रखते तो साफ़ कह दिया करते—"उनका पिता और रक्षक भगवान है।" विद्यार्थीजी के कई मित्रों ने उनका साथ खूब निभाया। उन मित्रों में पण्डित शिवनारायण मिश्र, लाला सालिगराम बजाज इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

कांग्रेस की उन्होंने अत्यधिक सेवा की थी। महात्मा गांधी के कट्टर अनुयायी थे; साथ ही साम्यवाद के पक्के समर्थक भी थे। आजकल कानपुर में मज़दूर-सभा का बड़ा ज़ोर है। मज़दूरों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था यही है। इसकी स्थापना भी, आज से १६-१७ वर्ष पूर्व, श्री गणेश शङ्कर विद्यार्थी ही ने की थी। उनके योग्य साथी तथा सहकारी श्री हरिहरनाथ शास्त्री के परिश्रम से मज़दूर सभा ने बहुत उन्नति की है। अब तो उसका बहुत अच्छा संगठन हो गया है।

विद्यार्थीजी प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के मन्त्री तथा अध्यक्ष और सन् १९२५ में, कांग्रेस के कानपुर में होनेवाले अखिल भारतीय अधिवेशन के स्वागत-मन्त्री भी थे। कांग्रेस के स्वयंसेवक आन्दोलन में भी उन्होंने बड़ा भाग लिया था। स्वयंसेवकों की बड़ी क़द्र करते थे। राजनैतिक आन्दोलन में तीन बार जेल गये थे और उनपर कई मुक़दमे चलाये गये थे। इसके अतिरिक्त सामाजिक संस्थाओं से भी उनका बड़ा सम्बन्ध था। धर्म तथा समाज के विषय में बड़े उन्नत और उदार विचार थे। छूआछूत, बाल-विवाह इत्यादि के कट्टर विरोधी और जाति-पाँति की भेद-बाधा तोड़ने और विधवा-विवाह के पक्ष-पाती थे। स्त्रियों के अधिकारों तथा किसानों के अधिकारों के लिये वह जीवन भर संघर्ष करते रहे। उनके उदार भाव, सच्ची मैत्री तथा उन्नत विचारों के कारण कानपुर-वासी उनपर जान देते थे और इसीलिये सन् १९२३ में जब वह कानपुर से, युक्त प्रान्तीय कौंसिल की मेम्बरी के उम्मीदवार हुए तो उनके धनी विरोधी की गहरी हार हुई। कौंसिल की मेम्बरी में वह स्वराज्य पार्टी के कांग्रेस दल में थे। उन्होंने कौंसिल में बहुत अच्छा काम किया और सरकारी पक्ष के लोग भी उनका बड़ा आदर करते थे।

हिन्दू-मुसलिम एकता के लिये वह सदैव चेष्टा करते रहे। बार-बार यह समझाया करते थे कि हिन्दू और मुसलमान एक ही मिट्टी से पैदा हुए और उसमें मिल जावेंगे। उन दोनों में विरोध कैसा! उनका आपस का झगड़ा उनकी मूर्खता की निशानी है। विद्यार्थीजी केवल मौखिक बातें ही करना नहीं जानते थे। जो कहते उसे कार्यरूप में परिणत कर दिखाते थे। सन् १९३१ में कानपुर में भीषण हिन्दू-मुसलिम दंगा हुआ। उसमें हिन्दू-मुसलमान

दोनों की जान बचाने की चेष्टा में २५ मार्च, सन् १६३१ में वह स्वयं मारे गये। इस प्रकार पवित्र एकता स्थापन के लिये उन्होंने अपना प्राण तक दे दिया। वह शहीद हो गये। उनकी मृत्यु से देश का एक हीरा खो गया। भारत के कोने-कोने में शोक छा गया और सबने उस शहीद की यादगार में आँसू बहाये।

अपनी आत्म-कथा में पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने विद्यार्थीजी के विषय में जो शब्द लिखे हैं—उससे बढ़कर उनका और कोई परिचय नहीं हो सकता। वह लिखते हैं:--

"(करांची) कांग्रेस कैम्प में (जहां उनकी मृत्यु का समाचार यकायक मिला) हज़ारों व्यक्ति उनको जानते थे। हम यू. पी. वालों के लिये वह सब से प्रिय मित्र तथा साथियों में से थे। वह वीर, निश्चल, दूर-दर्शी और बुद्धिमत्ता पूर्ण सलाह से युक्त थे। कभी हतोत्साह न होते। आत्म-विज्ञापन, पद का अधिकार और लोभ या जनता के सामने नेता के रूप में आने की भावना से दूर—चुपचाप मिहनत से काम करते रहे। अपनी भरी जवानी में उन्होंने अपने उस उद्देश्य (एकता) की पूर्त्ति के लिये, जिसके लिये वह हृदय से तथा प्राणपण से चेष्टा करते थे—अपना प्राण भी दान कर दिया और बेवक़ूफ़ हाथों ने उन्हें छुरा मार कर कानपुर तथा हमारे प्रान्त से अपने सब से उज्ज्वल हीरे को मिटा दिया। कराची में, यू. पी. के कैम्प में उदासी छा गयी। उनकी हत्या का समाचार मिलते ही सब लोग बहुत दुःखी हो गये। ऐसा मालूम होता था मानो हमारे बीच से प्रतिभा ही तिरोहित हो गयी हो। पर, कितने अभिमान के साथ हम यह सोच रहे थे कि हमारे एक साथी ने इतनी निश्चलता और शान के साथ मृत्यु का आलिङ्गन किया है।"

अस्तु, श्री गणेश शङ्कर विद्यार्थी का जन्म आश्विन, शु० १४, रविवार, सं० १९४७ (सन् १८९०) में अपने ननिहाल अर्थात् इलाहाबाद के अतरसुइया मुहल्ले में हुआ था। कहते हैं कि जब वह गर्भ में थे तब उनकी नानी ने सपना देखा कि वह गणेशजी की एक मूर्त्ति अपनी लड़की गोमती के हाथ में दे रही हैं। इसी स्वप्न के बाद उन्होंने निश्चय कर लिया कि यदि लड़का होगा तो उसका नाम गणेशजी रखा जावेगा। इस प्रकार इस बालक का नाम गणेशशङ्कर पड़ा। जिस समय वह तीन साल के थे, अपने नाना मुं० सूरजप्रसाद के साथ सहारनपुर में रहते थे। मुंशीजी ज़िला जेल के असिस्टेण्ट जेलर थे। विद्यार्थीजी के पिता मुं० जयनारायणजी ज़िला फ़तेहपुर के हथगाँव नामक ग्राम के रहने वाले थे। वह ज्योतिष के बड़े पण्डित थे तथा अंग्रेज़ी, उर्दू, फ़ारसी आदि के अच्छे विद्वान् थे। विद्यार्थीजी को ५-६ वर्ष की उम्र के समय उनके पिता ग्वालियर रियासत के मुंगावली नामक स्थान में एँग्लो-वर्नाक्यूलर स्कूल में सेकेण्ड मास्टर थे। यहीं पर विद्यार्थीजी की शिक्षा का श्रीगणेश हुआ और सन् १९०६ में उन्होंने अंग्रेज़ी मिडिल पास कर लिया। अपने बड़े भाई श्री शिवव्रतनारायण के कहने से उन्होंने इन्ट्रेन्स की परीक्षा की तय्यारी की और निजी तौर पर, घर पर शिक्षा प्राप्त कर, सन् १९०७ में, कानपुर के क्राइस्ट चर्च कालेज के परीक्षा-केन्द्र से, इण्ट्रेंस की परीक्षा भी पास की।

इसके बाद कायस्थ पाठशाला कालेज में भर्त्ती हो गये पर सात-आठ महीने की ही पढ़ाई के बाद, आर्थिक संकटों के कारण पढ़ाई जारी न रख सके। इलाहाबाद में ही रहते समय, हमारे प्रान्त के पुराने, प्रसिद्ध तथा कर्मठ कार्यकर्त्ता श्री सुन्दरलालजी से उनका परिचय हो गया। सुन्दरलाल जी कुशल पत्रकार भी हैं। उनके साथ का विद्यार्थीजी पर बहुत प्रभाव पड़ा।

पढ़ाई छोड़कर विद्यार्थीजी अपने बड़े भाई के पास कानपुर आ गये। यहीं पर, करेंसी आफ़िस में, ६ फ़रवरी १९०८ को ३०) माहवार पर उनकी नौकरी लग गयी। पर, ऐसे कर्मठ व्यक्ति कुर्की करने के लिये नहीं पैदा होते। अपने अफ़सर से अनबन होने के क़ारण उन्होंने २६ वीं नवेम्बर १९०९ को इस्तीफ़ा दे दिया। इधर, उन पर गृहस्थी का बोझ भी आ पड़ा था। ९ जून, १९०९ को चन्द्रप्रकाश नामक बड़ी गुणशीला कन्या से उनका विवाह हो गया था।

अस्तु, १ दिसम्बर १९०९ को ही विद्यार्थीजी ने २०) माहवार पर अध्यापक की नौकरी कर ली। यहाँ भी न निभी और ५ सितम्बर १९१० को इस्तीफ़ा दे दिया।

इन्हीं दिनों सुन्दरलालजी का "कर्मयोगी" पत्र बड़ी धूमधाम से निकला करता था। विद्यार्थीजी ने बचपन से ही उर्दू-फ़ारसी की शिक्षा पाई थी, पर हिन्दी से अनुराग होने के कारण वह उसके भी पण्डित हो गये थे। उन्होंने लेख लिखना भी शुरू किया था और "सरस्वती" सम्पादक श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी से उन्हें बहुत प्रोत्साहन मिला। "कर्मयोगी" पत्र को वह नियमित रूप से पढ़ते थे और उसमें लिखते भी थे। श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा, मुं० दयानारायण निगम, महाशय काशीनाथ ऐसे योग्य व्यक्तियों के सम्पर्क के कारण विद्यार्थीजी को बड़ा लाभ हुआ था। मुं० दयानारायण निगम हमारे प्रान्त के सुप्रसिद्ध पत्र "ज़माना" के सञ्चालक तथा प्रकाशक है और इस प्रान्त के बहुत पुराने पत्रकार हैं। ऐसे लोगों का गणेशजी पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था।

२ नवेम्बर १९११ को २५) मासिक पर विद्यार्थीजी "सरस्वती" के सहकारी सम्पादक नियुक्त हुए। द्विवेदी जी इनके ऐसा गुणी सहकारी

पाकर बड़े प्रसन्न हुए थे। कुछ समय तक "अभ्युदय" नामक राजनैतिक पत्र में भी विद्यार्थीजी ने काम किया। २६ दिसम्बर १६१२ से २३ सितम्बर १६१३ तक वह ५०) माहवार पर इस पत्र के सहकारी सम्पादक थे।

किन्तु, उनके मन में जो राजनैतिक भावनायें जागृत हो चुकी थीं, उनके चित्त में जो राजनैतिक चञ्चलता तथा साहित्यिक सेवा की भावना व्याप्त थी—उसके लिये उन्हें एक अधिक व्यापक क्षेत्र की आवश्यकता थी। इस साधन-हीन युवक ने ६ नवेम्बर १६१३ को कानपुर के फ़ीलख़ाना मुहल्ले में "प्रताप" नामक पत्र को जन्म दिया।

इसी समय से कानपुर उनका घर हो गया—"प्रताप" उनका सर्वस्व था—देश-सेवा के लिये वह तन-मन-धन से लग गये। उनके कर्मशील जीवन की लम्बी कहानी बतलाने का यहाँ स्थान नहीं है। उनका संक्षिप्त परिचय हम ऊपर दे चुके हैं। देश उनकी पूरी सेवा न प्राप्त कर सका—४१ वर्ष की भरी जवानी में संसार से उन्हें बिदा लेनी पड़ी। उनके विषय में संस्कृत की ये पंक्तियां बिल्कुल सत्य हैं:—

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

अर्थात्—चाहे आज मृत्यु हो या एक युगान्तर बाद—धीरवान पुरुष न्याय के पथ से कभी विचलित नहीं होते।

सर सी. वाई. चिन्तामणि

११ अप्रैल, १८८० को सर चिदम्बरम यज्ञेश्वरम् चिन्तामणि का जन्म, दक्षिण भारत के प्रसिद्ध नगर विजयानगरम में हुआ था। इनके पिता मध्यम श्रेणी के एक कुलीन ब्राह्मण थे और उन्होंने अपने पुत्र की शिक्षा पर पर्य्याप्त ध्यान दिया था। किन्तु, चिन्तामणि स्वास्थ्य की खराबी के कारण बी. ए. पास करने से पहले ही कालेज छोड़ बैठे। कालेज में, इनकी अंग्रेज़ी सब से अच्छी और साफ़ समझी जाती थी और विदेशी-भाषा का इनका ज्ञान और उसमे पाण्डित्य सब का ध्यान आकर्षित कर लेता था। अंग्रेज़ी के साथ ही इन्हें पत्रकार-कला से भी प्रेम हो गया था और वह बहुत सुन्दर लेख लिखते थे।

सन् १८९८ में ही, अर्थात् १८ वर्ष की उम्र में विजयानगरम से प्रकाशित होने वाले एक साप्ताहिक पत्र के वह सम्पादक नियुक्त हुए थे। पत्रकार-कला के साथ ही, देश के प्रति भी उनका अनुराग बढ़ता जा रहा था और सन् १८९९ में, लखनऊ की कांग्रेस में शामिल होने के लिये वह दक्षिण भारत से संयुक्त-प्रान्त आये थे। इस कांग्रेस में इनका भाषण इतना ओजस्वी, सार-पूर्ण तथा रोचक हुआ था कि अनायास सब का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हो गया। संयुक्त प्रान्त की उनकी यह प्रथम यात्रा थी और इस यात्रा में उन्हें यह प्रान्त इतना पसन्द आया कि उसे ही इन्होंने अपना घर और प्रान्त बना लिया।

१९०१ से १९०९ तक उनका समय मद्रास-इलाहाबाद-अमरावती के बीच बीता। कभी यहाँ रहे, कभी वहाँ। इन्हीं दिनों वह

ाक सम्मेलन के सहायक मंत्री का भी काम कर
रहे, किसी न किसी पत्र के सम्पादन का ही का

ाँ वह इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले "इण्डियन
क नियुक्त हुए और कई वर्षों तक बड़ी योग्यता

सर सी. वाई. चिन्तामणि

सम्पादन करते रहे। सन् १९०९ में उन्होंने प्रसि
" के प्रकाशन का प्रबन्ध किया, कम्पनी बनाय
शेयर बेचे और पत्र की स्थापना होते ही, उस
ान्ध कर, इलाहाबाद में बस गये। तब से "

प्रान्त उनका प्रान्त है—और इलाहाबाद उनका नगर है। आज श्री चिन्तामणि के "पुराने" या "लिबरल" विचारों की देश में भले ही उतनी क़द्र न हो जितनी की पहले थी तथा 'लीडर' की नीति से लोगों को मत-भेद हो सकता है, पर एक समय था जब हमारे प्रान्त का एकमात्र निर्भीक और स्पष्टवक्ता पत्र लीडर ही था और श्री चिन्तामणि इने-गिने राष्ट्र-सेवकों में थे। इस प्रान्त के राजनैतिक विकास और उन्नति में उनका बहुत बड़ा हाथ है और उनसे शिक्षा प्राप्त कर उनकी देख-रेख में रहकर, बहुत से लोग कुशल सम्पादक और पत्रकार हो गये।

सन् १६१६ तक उनका नाम चारो ओर फैल चुका था। इस अवधि में वह युक्तप्रान्तीय सोशल कान्फ्रेंस, यू. पी. इण्डस्ट्रियल कान्फ्रेंस, यू. पी. पोलिटिकल कान्फ्रेंस आदि के सभापति रह चुके थे और युक्तप्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के मेम्बर चुने गये थे। महायुद्ध के बाद जब नया शासन-विधान बना तो श्री चिन्तामणि ने उसका बड़ा विरोध किया। उस समय लिबरल पार्टी की ओर से जो डेपुटेशन इङ्गलैण्ड गया था, उसके वही सेक्रेटरी नियुक्त हुए थे। सन् १६१८ में, कांग्रेस ने असहयोग का मार्ग पकड़ा। कांग्रेस के बहुत से पुराने सेवकों की दृष्टि में यह अनुचित था। श्री चिन्तामणि ने उसी समय, बड़े दुःख के साथ कांग्रेस से सम्बन्ध तोड़ लिया और लिबरल लीग में शामिल हो गये।

सन् १६२० में लिबरल फ़ेडरेशन का वार्षिक अधिवेशन मद्रास में हुआ। उसके अध्यक्ष श्री चिन्तामणि थे। वहाँ से लौटते ही, नये शासन-विधान के अनुसार बनी हुई लेजिस्लेटिव कौंसिल में उनका महत्वपूर्ण स्थान देखकर, युक्तप्रान्त के गवर्नर ने उन्हें मन्त्रि-पद के लिये आमन्त्रित किया। श्री चिन्तामणि तथा श्री जगतनारायण

मुल्ला प्रथम भारतीय मन्त्री थे। २८ महीने तक इन दोनों ने बड़ी योग्यता के साथ शासन-कार्य सम्हाला। श्री चिन्तामणि शिक्षा-मन्त्री थे और इनके शिक्षा-सम्बन्धी अनुपम कार्य की ख्याति चारो ओर फैल गयी। पर, गवर्नर से मतभेद हो जाने के कारण दोनों भारतीय मन्त्रियों ने इस्तीफ़ा दे दिया।

२८ महीनों तक श्री चिन्तामणि ने इतनी मेहनत के साथ काम किया था और ऐसी लगन के साथ प्रान्त की सेवा की थी कि वह बीमार पड़ गये और सन् १९२४ में उनका स्वास्थ्य इस योग्य हुआ कि वह कोई दूसरा काम कर सकें। सन् १९२४ में वह 'लीडर' के "प्रधान सम्पादक" नियुक्त हुए। तब से आजतक वह इस पदको सुशोभित कर रहे हैं।

१९२४ के कौंसिल चुनाव में वह पुनः प्रान्तीय असेम्बली (कौंसिल) के मेम्बर चुने गये थे और लगातार ९ वर्ष तक बड़ी योग्यता के साथ सरकार-विरोधी-पक्ष का नेतृत्व करते रहे। सन् १९३२ में, लन्दन के द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन में—जो भारतीय शासन-विधान का नया ढाँचा तय्यार करने के लिये आयोजित किया गया था—वह प्रतिनिधि के रूप में लन्दन गये और वहाँ भारतीय पक्ष का बड़ी सुन्दरता के साथ उन्होंने प्रतिपादन किया था।

श्री चिन्तामणि की विद्वत्ता तथा योग्यता से प्रभावित होकर बनारस तथा इलाहाबाद के विश्वविद्यालयों ने उन्हें "डाक्टर" की उपाधि से विभूषित किया तथा सरकार की ओर से "सर" का ख़िताब भी मिला है। आन्ध्र विश्वविद्यालय ने उनसे एक विशेष व्याख्यान दिलवाया था जिसका विषय था—"सन् ५७ के ग़दर के बाद से भारतीय राजनीति का विकास"। इस व्याख्यान माला को पुस्तकाकार

छापा गया है और यह ग्रन्थ राजनीति के हरएक विद्यार्थी को पढ़ना चाहिये

सन् १९३८ से ही श्री चिन्तामणि का स्वास्थ्य ख़राब रहता है। अब वह अधिक काम नहीं कर सकते। इसकी चिन्ता से सभी परेशान हैं और भगवान से प्रार्थना करते हैं कि वह पूर्ण स्वस्थ होकर क्रिया-शक्ति तथा कार्य-क्षमता को प्राप्त कर लें।

सर सी. वाई. चिन्तामणि बड़े धार्मिक व्यक्ति हैं। इनके पिता बड़े विद्वान् तथा धर्म-प्रेमी थे और वह विजयानगरम् के महाराजा सर विजयारामा गजपति राजू के गुरू भी थे। पिता से जो धर्म्म-शिक्षा पुत्र को मिली है - वह आज बहुत ऊँचे आदर्श तक पहुँच गयी है। पूजा-पाठ में घण्टों बीत जाते हैं। दान-धर्म्म भी काफी होता है।

उनकी स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र है। बहुत छोटी उम्र में ही इस प्रतिभा का विकास हो गया था। कालेज के दिनों में सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ऐसे देशभक्त नेताओं के व्याख्यान को बड़े चाव से पढ़ते और उसका अक्षर-अक्षर एक ही बार में कण्ठस्थ हो जाता था। व्याख्यान देने, पढ़ने, सुनने और देशभक्ति के मार्ग में अग्रसर होने की शिक्षा उनको वास्तव में एक दूसरे ही व्यक्ति से मिली या उस ओर की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। "मद्रास स्टैण्डर्ड" के सहकारी-सम्पादक श्री एस. के. नैयर बड़े अच्छे वक्ता और लेखक थे। सन् १८९५ में उनके व्याख्यानों तथा लेखों ने चिन्तामणि को बहुत ही प्रभावित किया था।

उनके अत्यधिक अध्ययन तथा ज्ञान के कारण उनसे वार्त्तालाप करने में बड़ा आनन्द आता है। वह भारत के बहुत ही कुशल वार्त्तालाप

करनेवालों मे से हैं। तर्कों को मीठी भाषा से निरस्त कर देना और अपने विरोधी को अपना मित्र बना लेना उनके लिये बड़ा ही सरल काम है। यह तो सत्य है कि उनकी जिह्वा पर सरस्वती विराजमान-सी प्रतीत होती है।

श्री चिन्तामणि बड़े ईमान्दार और सच्चे पुरुष हैं। उन्होंने सच्चे सम्पादन और लोभ-रहित पत्रकार-कला का बड़ा ऊँचा आदर्श उपस्थित किया है। उन्होंने कभी किसी दशा में अपनी कला को बेचा नहीं। सदैव उससे न्याय-संगत काम लिया। उनके मार्ग मे बड़े-बड़े प्रलोभन आये, पर उन्होंने कभी किसी प्रकार के प्रलोभनों की ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं।

११ अप्रैल, १९४० को उनका ६० वर्ष पूरा हुआ था। उस अवसर पर, इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली प्रसिद्ध मासिक पत्रिका "ट्वेन्टीयथ सेन्चुरी" ने अपना विशेषांक प्रकाशित किया था। उसमें, हमारे देश के सभी महापुरुषों ने, गवर्नर तथा अन्य सरकारी अधिकारियों ने श्री चिन्तामणि के प्रति श्रद्धा तथा स्नेह के भाव प्रकट किये थे।

काशी विश्वविद्यालय के वाईस चान्सलर सर सर्वपल्ली राधा-कृष्णन् ने उनके विषय में बिलकुल सत्य लिखा है कि:—

"उनके ऐसा दूसरा आदमी पाना मुश्किल है जो हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास से परिचित हो और इस आन्दोलन में जिसने स्वयं भी कम भाग नहीं लिया हो। यदि हमारे पत्रकार उनके समान स्वतन्त्र विचार और सिद्धान्त की दृढ़ता सीख जावें तो मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि समाचार पत्रों में बहुत उन्नति हो जावेगी।"

लाला कमलापति सिंघानियाँ

उद्योग या व्यवसाय की दृष्टि से हमारा प्रान्त बहुत आगे नहीं है। बम्बई अथवा बंगाल के समान इसकी व्यापारिक उन्नति नहीं हुई है। यदि इस प्रान्त में कानपुर की मिलें तथा गोरखपुर एवं बस्ती की शक्कर की मिलें न होतीं तो यह प्रान्त बहुत पिछड़ा हुआ सूबा कहलाता।

कानपुर इस प्रान्त का मैंचेस्टर है। यहां पर पचास से अधिक कल-कारखानें हैं। रूई, जूट, लोहा, शक्कर और तेल आदि के बड़े-बड़े कारखाने हैं।

कानपुर में सब से अधिक मिलें जुग्गीलाल कमलापत फ़र्म की हैं। यह बहुत पुरानी और आदरित कोठी है। शुरू शुरू में इस नगर का अधिकांश व्यवसाय यूरोपियनों के हाथ था। ग़दर के ज़माने में फ़ौज़ी केन्द्र होने के कारण बहुत से यूरोपियन यहीं बस गये थे और उनमें से कुछ ने कल-कारखानों का श्री गणेश यहाँ किया। इस औद्योगिक-सेवा के लिये हमारा प्रान्त उनका ऋणी है। पर, भारतीयों में, इस व्यवसायिक कार्य को हमारे सूबे में चरम सीमा पर पहुँचा देने का कार्य जुग्गीलाल कमलापत की फ़र्म ने किया था। आज इस संस्था के १८ कारखाने या मिलें हैं, करोड़ों का व्यापार होता है और लाखों व्यक्तियों की जीविका चलती है।

"जुग्गीलाल कमलापत" की इतनी तरक्की उसके प्रमुख कार्यकर्त्ता तथा प्रतिष्ठापक लाला कमलापति के कारण हुई थी। इनका पूरा नाम लाला कमलापति सिंघानियाँ था। मारवाड़ में सिंघाणा नामक एक ग्राम था। उसी ग्राम में इनके पूर्वज रहते थे। लगभग १५० वर्ष हुए, इनके

नोदीराम सिंघाणे शेखावाटी के बिसाऊ ग्राम में अ
य बाद वह पैदल चलकर हमारे प्रान्त के फ़र्रुखाबाद
आये और वहीं बस गये। यह नगर उस समय बड़

लाला कमलापति सिंघानियाँ

णे या सिंघानियों की एक फ़र्म मेसर्स सेवारा
ा एक ज़माने में कलकत्ता में बड़ा नाम था। आ
की कई शाखायें हो गयीं जिनमें एक शाखा बैजना
म से कानपुर में खुली। कुछ समय बाद इस फ़र्म
हुआ और इस बँटवारे के समय ही इस फ़र्म के ए

मालिक लाला जुग्गीलाल के नाम से जुग्गीलाल नामक फ़र्म खुला जिसके स्वामी लाला कमलापति थे।

इस कर्मठ तथा साहसी व्यक्ति ने अभूतपूर्व परिश्रम तथा लगन के साथ अपने फ़र्म का कारोबार सम्हाला और बड़ी तत्परता से नये-नये व्यवसाय चालू करते गये और उनमें सफल भी होते गये। उन्हे केवल एक ही धुन थी—जिस काम को हाथ में लेना उसे पूरा करना और जिस काम का संकल्प कर लेना उसे कभी न छोड़ना। बात के बड़े धनी थे। जो बात, जो वादा एक बार मुँह से निकल जाता वह कभी भी अधूरा न छूटता। जिससे जो कह दिया उसे पूरा किया, चाहे उसमें कितनी ही हानि हो। कभी किसी की जाने-अनजाने हानि नहीं करते थे। सर्वदा यही चेष्टा करते कि अपने शरीर से दूसरों का कल्याण करें। कानपुर में ही नहीं, प्रान्त भर में अपनी उदारता, सौजन्य, स्नेह-भाव तथा प्रतिज्ञा-पालन के लिये वह बहुत प्रसिद्ध और आदरित थे। जिस किसी ने, जब कभी उनसे जो सहायता माँगी, उसे निराश न होने दिया।

धर्म-प्रेमी तथा कर्त्तव्य-शील व्यक्ति थे। सामाजिक विचार बड़े उदार थे और जब कभी कोई सामाजिक कार्य पैसे के अभाव से रुकता तो इन्हीं की शरण में जाने से सब काम हो जाता। पर, आत्म-विज्ञापन से उन्हें बड़ी नफ़रत थी। कभी दल-बन्दी या राज-नैतिक झगड़ों में नहीं पड़े। विचार राष्ट्रीय थे देश का हर तरह से कल्याण करना चाहते थे पर अपना निजी कार्य-क्षेत्र उद्योग और व्यवसाय तक ही सीमित रखते थे।

इमारतें बनवाने का बड़ा शौक़ था। जुग्गीलाल कमलापत ग्रूप के अन्तर्गत मिलों का प्रधान कार्यालय कमला टावर नामक भव्य

भवन में है कानपुर के चटाई महाल में यह दर्शनीय इमारत है यह इमारत लाला कमलापति की यश पताका के समान है इसके सिवा उन्होंने पचासों बङ्गले बनवाये तथा अनेक बाग़ लगवाये। इनका अपना निवासस्थान 'गङ्गाकुटी' नामक महल गङ्गा नदी के किनारे, बड़ा मनोहर स्थान है। लालाजी घुड़सवारी के बड़े शौक़ीन थे। शरीर बहुत गठा हुआ, रोबीला और कसरती था। उनका व्यक्तित्व ग़ज़ब का था।

मशीनों का बड़ा शौक़ था। जो मशीन या कल-पुर्ज़ा सामने देखा---बिना उसको समझे कभी न छोड़ते। अच्छे-अच्छे और नामी इञ्जीनियर उनका लोहा मानते थे। समझ इतनी तेज़ थी कि किसी भी बात में कोई कभी उनको भुलावा या धोखा नहीं दे सकता था। बहुत पढ़े-लिखे व्यक्ति न थे पर हरएक विषय की जानकारी थी और सूझ बहुत अच्छी थी। उनसे कभी कोई काम बिगड़ने न पाया।

सन् १९३२ में राउण्ड टेबुल कान्फ्रेंस के समय वह इङ्गलैण्ड गये थे और उसी समय यूरोप का भ्रमण भी किया था। उस समय, यूरोप के हरएक बड़े बड़े कल-कारख़ाने वालों से मिले थे और उनका कारख़ाना देखा था। यूरोप से लौटकर उन्होंने एक नया कारख़ाना तुरत खोला।

उनकी इच्छा-शक्ति बड़ी अद्भुत् थी। जिस काम में तबीयत लगती--वह अनायास ही पूरा हो जाता। और, कामों का शौक़ ख़ासकर एक ही दिशा में था—"माल बनाने का"--नया माल तय्यार करने का--मैनुफ़ैक्चर का काम वह ख़ूब समझते थे और उसी को ख़ूब बढ़ा रहे थे।

जुग्गीलाल कमलापत की फ़र्म पहले एजेंसी का काम करती थी। पर, लालाजी ने एक मिल "जुग्गीलाल कमलापत काटन स्पिनिंग एण्ड

वीविंग मिल्स" के नाम से खोला। इसके बाद जूट मिल, फिर काटन मैनुफ़ैक्चरर्स मिल खोला। मरने के पहले तक लगभग १६ मिलों से उनका सम्बन्ध था। इसके अलावा कई दर्जन मिलों के वह शेयर होल्डर थे। लक्ष्मीरतन कॉटन मिल भी उन्हीं की स्थापित की हुई है। इसके साथ ही, शक्कर की मिलें भी खोली गयीं। बर्फ़ का, तेल का, साबुन का कारख़ाना भी खोला गया। अब तो उनके सुपुत्र लाला पद्मपति सिंघानियाँ ने लोहे का, प्लाइउड का तथा कार्डबोर्ड आदि का भी कारखाना खोला है।

लाला कमलापति ने अपने फ़र्म की ही अद्भुत् उन्नति नहीं की बल्कि, प्रान्त के व्यवसायिक जीवन में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इस क्रान्ति का अनुमान उद्योग-व्यवसाय का विद्यार्थी ही लगा सकता है। उनके जीवन की यह महत्वाकांक्षा कि हर प्रकार के व्यवसाय को भारतीय पूरा तथा सफल करके दिखा सकता है, पूरी हुई। उनकी मृत्यु के समय तक उनके तीनो पुत्र—ला० पद्मपति, ला० कैलाशपति, तथा ला० लक्ष्मीपति इतने योग्य हो गये थे कि उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ अपने पिता का काम सम्हाल लिया। यहाँ पर एक बात और लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है कि लाला कमलापति के जीवन की सफलता में बहुत बड़ा हाथ उनकी अत्यन्त धर्मनिष्ठा तथा दानशीला पत्नी को है। वह बड़ी साधु महिला हैं जिनके कारण घर भर में धार्मिक भावना फैली रहती है।

अत्यधिक परिश्रम के कारण लालाजी का स्वास्थ्य गिरने लगा और वर्षों बीमार रहकर ५३ वर्ष की अवस्था में ३१ मई, सन् १९३७ को इस असार संसार से चल बसे। इतनी थोड़ी उम्र में उन्होंने जितना काम किया था वह बिरले ही लोग कर पाते हैं।

प्रान्त की अन्य विभूतियाँ

भारत के अधिकांश महापुरुषों का जन्म संयुक्त प्रान्त में ही हुआ है। भूगोल के अनुसार इस प्रान्त की जो व्याख्या है—वही भू-भाग किसी समय संसार की सभ्यता, शिक्षा तथा धन-वैभव का केन्द्र था। महाभारतकाल में—या उससे भी पहले त्रेतायुग में, श्री रामचन्द्र के समय, संयुक्तप्रान्त की भूमि विश्व-साम्राज्य की केन्द्र, राजधानी तथा राजभूमि थी। राम, कृष्ण, कपिल, कणाद, गौतम, वशिष्ठ, विश्वामित्र, व्यास, सूर, तुलसी, कबीर की यह भूमि वास्तव में संसार में सबसे पवित्र भूमि है।

इस प्रान्त में उत्पन्न होने वाले महापुरुषों की सूची इतनी लम्बी है कि यदि उनका संक्षिप्त परिचय भी कराने में पाठकों को काफ़ी बड़ी और कई भागों में लिखित पुस्तक भेंट करनी पड़ेगी। हमने इस ग्रन्थ में कुछ चुने हुए हीरों का ही परिचय करा दिया है। संक्षिप्त परिचय भी दिया जावे तो परिचय अधूरा है, यह हम अनुभव करते हैं, पर, उससे अधिक न तो स्थान था और न हम पूरा परिचय एक ही पुस्तक द्वारा करा सकते हैं।

फिर भी बहुत से ज़रूरी नाम छूट ही गये हैं। लाचारी थी। इससे किसी को यह शंका नहीं होनी चाहिये कि किसी विशेष उद्देश्य से नामों का संकलन हुआ है। कितना भी निष्पक्ष चुनाव हो, उसमें मतभेद की गुञ्जायश रहती ही है।

इस प्रान्त में दो श्रेणी के महापुरुष तथा महिलायें हैं। एक तो वह जिन्होंने यहीं जन्म लिया, दूसरे वह लोग जिन्होंने इस स्थान को—इस प्रान्त को—अपना प्रान्त, देश तथा घर बना लिया। यह प्रान्त उन्हें ऐसा पसन्द आया कि वे यहाँ बस गये—यहीं के हो गये। पर, यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि महापुरुष किसी नगर या प्रान्त-विशेष की वस्तु नहीं होता। वह हरएक के लिए समान होता है—हमारी-आप की और देशभर की हित-साधना उसके द्वारा होती है। उसमें प्रान्तीयता की संकुचित भावना नहीं होती।

अस्तु, नीचे हम कुछ ऐसी विभूतियों का परिचय करा देना चाहते हैं जिनका नाम मूल ग्रन्थ में नहीं आ सका है।

श्रीमती एनी बेसेण्ट

यह अंग्रेज़ महिला थीं। इङ्गलैण्ड के एक ग्राम में सन १८४७ में इनका जन्म हुआ था। १ अक्टूबर १८६७ में इनका विवाह पादरी फ्रैंक बेसेण्ट से हुआ था। बचपन से ही धर्म की ओर मन में विशेष सम्मान था तथा गृहस्थ-जीवन की ओर रुचि न थी। १८७३ में इन्होंने पति से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और सन् १८७४ में नेशनल सेक्युलर सोसाइटी की स्थापना की। कुछ समय में इनका ध्यान चार्ल्स ब्राडला द्वारा प्रवर्त्तित "स्वतंत्र विचार" आन्दोलन की ओर आकृष्ट हुआ और वह उसमें शामिल हो गयीं। "जनता में समान अधिकार तथा धार्मिक स्वतंत्रता" के प्रचारक "फ़ेबियन समाज" की वह सदस्या बनीं। १८८९ में "सब धर्म तथा मज़हब को एक दृष्टि से—आदर के भाव से देखते हुए, सब के धार्मिक नेताओं का, पैग़म्बरों का समान रूप से आदर करते हुए—विश्व में बन्धुत्व के प्रचार" के उद्देश्य से

थियोसोफ़िकल सोसाइटी ने इनके चित्त को अपनी ओर
। और उसी समय से जी-जान से वह इस संस्था के
में लग गईं। पूर्वीय सभ्यता तथा पूर्वीय धर्म
न के बाद उनकी श्रद्धा भारत पर बढ़ती गयीं
धर्म तथा उसके दर्शन-शास्त्र ने उन पर बड़ा प्रभाव डाला

श्रीमती एनीबेसेण्ट

ल सोसाइटी की भारतीय शाखा स्थापित करने के लिये
राईं और एक शाखा एडियर (मद्रास) में तथा दूसरी
धर्म और शिक्षा के केन्द्र काशी में स्थापित की गयी।
धिकांश समय काशी में ही बीता और वह काशी-
न गयीं।

सन् १६०७ में   समाज की अध्यक्षा चुनी गयी तबसे आज के आठ वर्ष पूर्वतक— अर्थात् अपनी मृत्यु तक, वह इस संस्था की अध्यक्षा रहीं। उनके अध्यक्ष-काल में इस संस्था ने बहुत उन्नति की और इसका देश भर में प्रचार हो गया। हिन्दू संस्कृति तथा दर्शन-शास्त्र का, इस संस्था के द्वारा, विदेशों में बहुत काफ़ी प्रचार हुआ। दूर-दूर से गुणी लोग इस संस्था की ओर आकृष्ट होते गये और भारत ही नहीं, संसार के सभी धर्मों का केन्द्र काशी बन गया।

श्रीमती बेसेण्ट ने हिन्दू-धर्म के लिये तथा धार्मिक एकता के लिये ही बहुत बड़ा काम नहीं किया बल्कि और दिशाओं में भी उनके भगीरथ प्रयत्न सराहनीय हैं। सन् १८६८ में उन्होंने काशी में हिन्दू कालिज की स्थापना की जो आज हिन्दू विश्वविद्यालय के नाम से विख्यात है। यही कालेज, पं० मदनमोहन मालवीयजी के प्रयत्न से एक विश्वविद्यालय का रूप ग्रहण कर सका। सन १६०४ में श्रीमती बेसेण्ट ने थियोसोफ़िकल गर्ल्स स्कूल की स्थापना की जो आज कालेज बन गया है। थियोसोफ़िकल स्कूल का बाल-छात्र विभाग बहुत ही अच्छी तरह से संगठित तथा नियंत्रित है और बिलकुल नये ढंग से बच्चों को बड़ी सुन्दर शिक्षा देता है। थियोसोफ़िकल स्कूल व कालेज का मुख्य भवन अब बनारस में, राजघाट के पुराने क़िले के मैदान में, बड़े रमणीक स्थान पर बन गया है और यहाँ विद्या-केन्द्र का एक आदर्श उदाहरण देखा जा सकता है। श्रीमती बेसेण्ट ने मद्रास से "न्यू इण्डिया" नामक राष्ट्रीय पत्र का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया था जिसका सम्पादन वह स्वयं करती थीं।

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन मे भी श्रीमती बेसेण्ट ने बहुत भाग लिया और भारतीयों को जागृत करने मे इनका बहुत बडा हाथ था सन् १९१६ में "होम रूल लीग" (स्वराज्य संघ) की स्थापना उन्होंने की तथा उससे देश में एक नयी लहर दौड़ गयी। सन् १९१७ में वह नजर-क़ैद कर ली गयीं पर शीघ्र ही सरकार ने छोड़ दिया।

इनकी विद्वत्ता के प्रति अपना सम्मान प्रकट करने के लिये हिन्दू विश्वविद्यालय ने सन् १९२१ में इन्हें "डाक्टर" की उपाधि से विभूषित किया था।

डा० बीसेण्ट सत्याग्रह या असहयोग आन्दोलन के विरुद्ध थीं यद्यपि भारत के प्रति उनका प्रेम और उसके राजनैतिक अधिकारों के प्रति उनकी सहानुभूति यथावत् थी।

अत्यधिक कार्य करने के कारण वह बीमार रहने लगी थीं और आज से आठ वर्ष पूर्व उनका देहान्त हो गया।

श्री कृष्णमूर्त्ति

श्री कृष्णमूर्त्ति का जन्म दक्षिण भारत में ११ मई, सन् १८९५ को हुआ था। इनकी अद्भुत् प्रतिभा तथा प्रखर-बुद्धि ने श्रीमती बेसेण्ट को आकर्षित किया और वह उन्हें अपने पास रखने लगीं। १२ वर्ष की उम्र में ही बालक श्री कृष्णमूर्त्ति ने "स्वामी के चरणों में" नामक बहुत सुन्दर ग्रन्थ लिखा। श्रीमती बेसेण्ट तथा उनके अनुयायियों का विश्वास था और है कि कृष्णमूर्त्ति कृष्ण के अवतार तथा विश्व-उपदेशक हैं। थियोसोफ़िकल समाज में इनका बड़ा ऊँचा स्थान है और वह संसार में "विश्व-बन्धुत्व" तथा "सब धर्मों की तात्विक एकता" का उपदेश देते घूमते रहते हैं।

महाराजा महमूदाबाद

अवध की प्रसिद्ध ताल्लुक़ेदारी-रियासत महमूदाबाद के महाराजा सर महम्मद अली महमद ख़ाँन का जन्म सन् १८७७ में हुआ था। वह बड़े राष्ट्रीय विचार के व्यक्ति थे तथा प्रान्त और देश के कल्याण के लिये उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया था। पं० मोतीलाल नेहरू उनके प्रगाढ़ मित्रों में से थे। सन् १६२१-२७ तक महाराजा महमूदाबाद युक्त-प्रान्तीय सरकार के होम मेम्बर (गृह-सदस्य) थे और उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ अपना कर्त्तव्य पालन किया था। सन् १६१८ में वह मुसलिम लीग के सभापति थे तथा हिन्दू-मुसलिम एकता के लिये सदैव प्रयत्न करते रहते थे। सन् १६२६ में वह कौंसिल आव् स्टेट (राज-परिषद्) के सदस्य चुने गये थे।

शिक्षा-जगत् में भी उन्होंने बड़ा काम किया था। लखनऊ विश्वविद्यालय की स्थापना के समय चन्दा जमा करने वाली कमेटी के वह मंत्री थे। अखिल भारतीय शिक्षा-कमेटी के अध्यक्ष थे तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर थे।

अभी कुछ ही वर्ष हुए कि उनकी मृत्यु हो गयी जिससे हमारे प्रान्त की बड़ी हानि हुई है।

श्री शिवप्रसाद गुप्त

हमारे प्रान्त में सबसे बड़े दानी, धनियों में सबसे अधिक उदार तथा सरल-स्वभाव वाले और हरएक दीन-दुःखी के दुःख-दर्द को जी लगाकर सुनने वाले श्री शिवप्रसाद गुप्त हैं। इनका निवास स्थान काशी में है और इनके विशाल प्रासाद का नाम 'सेवा-उपवन' है।

आषाढ़ कृ० ८, सं० १९०० को इनका जन्म हुआ था। काशी के प्रसिद्ध नागरिक राजा मोतीचन्द्र इनके चाचा थे। सन् १९०९ में बी.ए. तक शिक्षा प्राप्त कर गुप्तजी इलाहाबाद से काशी लौट आये और स्थायी रूप से अपने घरेलू काम-काज तथा राजनैतिक आन्दोलन में दिलचस्पी लेने लगे। ८ मई, १९१४ को उन्होंने संसार की यात्रा शुरू की और उन्हीं दिनों पिछला महायुद्ध छिड़ने के बाद ३ महीने तक सिंगापुर की जेल में भी उनको रहना पड़ा था। सन् १९१८ में उन्होंने, असहयोग आन्दोलन के छिड़ने के पहले, काशी में ही ज्ञानमण्डल नाम से प्रसिद्ध छापाखाना तथा प्रकाशन-मन्दिर स्थापित किया और यहीं से, कृष्ण जन्माष्टमी के दिन भारत का सर्वश्रेष्ठ दैनिक (हिन्दी में) "आज" का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। यह दैनिक पत्र आज भी अपनी निराली शान से प्रकाशित हो रहा है और शुरू-शुरू में इसके प्रकाशन में लाखों रुपयों का घाटा होने पर भी श्री शिवप्रसाद गुप्त ने इसे बन्द नहीं होने दिया।

असहयोग आन्दोलन में गुप्तजी जेल-यात्रा भी कर आये है। अखिल भारतीय कांग्रेस के वह वर्षों तक खज़ाञ्ची रह चुके हैं। सन् १९२७-२८ में वह प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सभापति थे। सन् १९२९ में श्री शिवप्रसाद गुप्त ने सपत्नीक यूरोप की दूसरी यात्रा की।

श्री शिवप्रसाद गुप्त के दो अनुपम कार्य उन्हें अमरत्व प्रदान करने के लिये पर्य्याप्त हैं। सन् १९१९-२० में उन्होंने "राष्ट्रीय दृष्टि से उच्चतम शिक्षा देने वाली संस्था" काशी विद्यापीठ की स्थापना की। इसका उद्घाटन महात्मा गांधी के हाथों हुआ। आज यह राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय कालेज की उच्चतम शिक्षा प्रदान कर रहा है। इसका निजी भवन है, बाग़ है, पुस्तकालय तथा छात्रालय है। विद्यार्थियों से कोई

फीस नहीं ली जाती तथा छात्रालय का भोजन व्यय चार पांच रुपये माहवार ही पडता है पुस्तकालय इतना बडा है कि कहा जाता है कि इस प्रान्त में, सरकारी लाइब्रेरी के अतिरिक्त और कोई पुस्तकालय उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता। यह पुस्तकालय गुप्तजी का निजी है, जिसे उन्होंने विद्यापीठ को दान कर दिया है। इसके अतिरिक्त, विद्यापीठ के लिये ग्यारह लाख रुपये की एक मुश्त रक़म दान दी है। गुप्तजी के इसी धन से विद्यापीठ का काम चल रहा है, यद्यपि अब संस्था को धनाभाव हो रहा है और जनता से भी दान प्राप्त किया जाने वाला है।

गुप्तजी का दूसरा प्रधान कार्य्य "भारतमाता" मन्दिर की स्थापना है जिसकी नींव सम्वत १६८६ में पड़ी थी तथा जिसका उद्घाटन भी महात्मा गान्धी द्वारा हुआ था। इसमें "मूर्त्ति" के स्थान पर "भारत" का ३० फुट लम्बा तथा ३० फुट चौड़ा संगमरमर का मान-चित्र है। यह नक़्शा १२ वर्ष में बन कर तय्यार हुआ है। इस मन्दिर की दीवारों पर आदि काल के भारत से लेकर आज तक के भिन्न-भिन्न युगों के बहुत अच्छे, मनोरञ्जक नक़्शे रंगे हुए हैं। यह मन्दिर काशी विद्यापीठ के पास ही, बनारस कैण्ट स्टेशन से थोड़ी दूर पर, काशी विद्यापीठ रोड पर बना हुआ है। इसे देखने के लिये बड़ी दूर-दूर से यात्री आते हैं।

जेल-यात्रा से गुप्तजी का स्वास्थ्य खराब हो गया है तथा पत्नी के स्वर्गवास से उन्हें बड़ा दुःख पहुँचा है। पर उनकी देश-सेवा तथा प्रसिद्ध आतिथ्य-सत्कार और दीन-सेवा पूर्ववत जारी है।

नवाब क़तारी

कैप्टेन नवाब सर मुहम्मद अहमद सईद खाँ हमारे प्रान्त के एक प्रसिद्ध ताल्लुक़ेदार हैं। आप राजपूत वंश के हैं तथा कहते हैं कि इनके

प्रपितामह मुसलमान हो गये थे। नवाब साहब सन् १९२३-२६ तक हमारे प्रान्त की सरकार के मंत्री थे तथा जनवरी १९२६ से अगस्त १९२८ तक होम मेम्बर थे। सन् १९२८ में कुछ महीनों के लिये प्रान्त के स्थानापन्न गवर्नर भी हो गये थे—इस प्रकार वह युक्त प्रान्त के प्रथम भारतीय गवर्नर थे। वर्त्तमान प्रान्तीय असेम्बली के भी वह सदस्य है।

उनका जन्म १८८८ में छतारी में (ज़ि० बुलन्दशहर) में हुआ था और अलीगढ़ से उन्होंने एम. ए. की परीक्षा पास की। बड़े क़ाबिल आदमी हैं और बहुत ही मिलनसार, प्रेमी तथा सज्जन व्यक्ति हैं।

श्री श्रीप्रकाश

प्रसिद्ध दार्शनिक डा० भगवानदास के आप ज्येष्ठ पुत्र हैं तथा 'सेवाश्रम', सिगरा, बनारस कैण्ट में रहते हैं। ३ अगस्त, सन् १८९० को इनका जन्म हुआ था। सन् १९११ में सेण्ट्रल हिन्दू कालेज, बनारस से बी. ए. की डिग्री प्राप्त करने के बाद इङ्गलैण्ड चले गये और वहीं कैम्ब्रिज से बी. ए. तथा लन्दन से बैरिस्टरी की परीक्षा पास की। विलायत से लौटकर सेण्ट्रल हिन्दू कालेज में इतिहास के अध्यापक हो गये और सन् १९१७ तक इसी पद पर काम करते रहे। सन् १९१७-१८ में वह श्री चिन्तामणि के साथ "लीडर" पत्र में काम करते रहे। सन् १९१९ में पं० मोतीलाल नेहरू के अंग्रेज़ी दैनिक पत्र "इण्डिपेण्डेण्ट" के सम्पादक रहे। इसी वर्ष, काशी सेवा समिति की स्थापना हुई जिसके संस्थापकों में श्री श्रीप्रकाश भी थे। इस संस्था के कई वर्ष तक वह मंत्री तथा सभापति रह चुके हैं। सेवा-समिति का कार्य अब भी वह बड़ी लगन के साथ करते हैं।

श्री श्रीप्रकाश पुराने कांग्रेस कार्यकर्त्ता हैं। सन् १९१६ से ही वह कांग्रेस में शामिल हैं। कई बार जेल हो आये हैं। अखिल भारतीय

काग्रेस कमेटी के मत्री रह चुके है प्रान्तीय काग्रेस कमेटी के सभापति, मत्री तथा कोषाध्यक्ष रह चुके हे सन १९१८ से ३५ तक अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य थे। सन् १९३४ में बड़ी व्यवस्थापक महासभा के सदस्य चुने गये और अभी तक उसके मेम्बर हैं।

काशी विद्यापीठ की स्थापना के समय से ही वह उसकी अवैतनिक रूप से सेवा कर रहे हैं। उसके अध्यापन तथा मंत्रित्व-दोनों का काम करते हैं। वर्षों तक "आज" का सम्पादन करते रहे और "ज्ञानमण्डल" का काम अभी तक देखते हैं।

सन् १९०८ में उनका विवाह हुआ था, पर १९२६ में ही, दो पुत्र तथा दो कन्यायें छोड़ कर, उनकी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। श्री श्रीप्रकाश ने अपना दूसरा विवाह नहीं किया।

श्री श्रीप्रकाश समय के बड़े पाबन्द हैं। किसी काम को कल पर नहीं टालते। पत्रों का तुरत उत्तर देते हैं। सफ़ाई तथा संयम के क्रियाशील समर्थक हैं। मित्रों तथा आश्रितों का बड़ा ख्याल रखते हैं। बड़े अच्छे लेखक तथा वक्ता हैं। हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं में बहुत सुन्दर लिखते हैं तथा बोलते हैं। इनके व्याख्यानो मे व्यंगात्मक तथा मीठी चुटकियों का बड़ा अच्छा पुट रहता है।

श्री श्रीप्रकाश का श्रीमती बेसेण्ट का बहुत साथ रहा है। वह स्वयं कहते हैं कि विनम्रता तथा शालीनता में श्रीमतीजी अद्वितीय थीं। डा० भगवानदास ऐसे योग्य पिता की सन्तान का धर्म-भीरु होना भी स्वाभाविक ही है। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि श्री प्रकाश जी बड़े आदर्श मित्र, सहायक तथा नेता हैं। काशी को उनके ऐसे नागरिक पर गर्व है।

कतिपय साहित्यिक

यहाँ पर, कुछ साहित्यिकों का संक्षिप्त परिचय दे देना उचित होगा।

ख्वाजा अब्दुल मजीद अलीगढ़ के ग्रेजुएट और वकील है। अलीगढ़ राष्ट्रीय मुसलिम विद्यालय के, जिसका नाम जामिया मिल्लिया है -आचार्य्य हैं। अब यह कालेज दिल्ली में है और उर्दू साहित्य की बहुत अच्छी सेवा कर रहा है। ख्वाजा साहब शिक्षा-शास्त्र में बड़े विद्वान् तथा उसके ज्ञाता हैं और महात्मा गांधी की वर्धा-शिक्षा योजना के बनाने में इनसे बड़ी सहायता मिली है।

पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे काशी-निवासी हैं और हिन्दी के वयो-वृद्ध पत्रकार हैं। इनकी रचना "सरल गीता" तथा "हिन्दुत्व" बहुत प्रसिद्ध है।

श्री मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी भाषा के श्रेष्ठ तथा ख्याति-प्राप्त कवियों में से हैं। इनके दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं—"भारत-भारती" तथा "साकेत"।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का "प्रिय-प्रवास" जब तक संसार में रहेगा, इस महाकवि को कोई नहीं भूल सकता।

पं० सुमित्रानन्द पन्त, डा० रामकुमार वर्म्मा तथा श्री महादेवी वर्मा हमारे प्रान्त के उज्वल कवि-रत्न हैं।

हिन्दी साहित्य की राव राजा पं० श्यामबिहारी मिश्र, पं० शुकदेव बिहारी मिश्र तथा पं० सुखदेव बिहारी मिश्र (मिश्र-बन्धु) ने बड़ी सेवा की है। हिन्दी-प्रचार के कार्य में अत्यधिक परिश्रम करने वाले

नागरी प्रचारिणी सभा के जन्मदाता राय साहब बा० श्यामसुन्दर दास तथा पं० रामनारायण मिश्र बी. ए. का हिन्दी संसार चिर-ऋणी रहेगा।

प्रान्त में सब से कुशल हिन्दी-पत्र सम्पादक तथा विद्वान् लेखक श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर हैं। पराड़करजी काशी के दैनिक "आज" के प्रधान सम्पादक हैं।

हम इन सभी विभूतियों का अभिवादन करते हैं।

अन्वेषण की कहानियाँ

लेo :—मदनलाल जैन, एम. ए., एल. टी.

प्रस्तुत पुस्तक में भूगोलिक अनुसन्धान सम्बन्धी कतिपय कहानियों का संग्रह किया गया है। इन कहानियों में पाँचों महाद्वीपों और दोनों ध्रुव प्रदेशों की खोज के वृत्तान्त का समावेश किया गया है, और अन्त में दो कहानियाँ समुद्र के गर्भ की खोज और एवरेस्ट शिखर की चढ़ाई के सम्बन्ध में दी गई हैं। नवयुवकों को इन कहानियों से वीरता, साहस, धैर्य तथा अध्यवसाय की परमोत्तम शिक्षा मिल सकती है। पुस्तक अनेकों उपयोगी चित्रों एवं मानचित्रों द्वारा सुसज्जित है।

पृष्ठ संख्या २००। मूल्य १)

हिन्दुस्तान के निवासियों का संक्षिप्त इतिहास

लेo :—डाo ताराचन्द, एम. ए.

इस पुस्तक में केवल मिति, वार, काल चक्रानुसार राजनैतिक घटनाओं का ही उल्लेख नहीं है वरन् हिन्दुस्तानियों के शासकों में; धार्मिक तथा नैतिक जीवन में, साहित्य, कला तथा विज्ञान में; व्यापार तथा व्यवसाय में क्रमशः जो विकास तथा उन्नतियाँ हुई हैं, उन्हीं का सुचारु रूप से चित्रन तथा विवेचन किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक सर्वसाधारण एवं इतिहास के विद्यार्थियों के बड़े काम की है। भाषा बहुत ही सरल है।

मूल्य २॥)

मैकमिलन ऐण्ड कम्पनी, लिमिटेड
२९४, बहुबाज़ार स्ट्रीट, कलकत्ता

भारतीय

ऐतिहासिक मान चित्रावली

इस ऐतिहासिक मानचित्रावली में भारतीय इतिहास की घटनाओं का शृङ्खलाबद्ध वर्णन किया गया है। विच्छिन्न अथवा अनुपयोगी घटनाओं को न देकर मानचित्रों को काल-क्रमानुसार अङ्कित किया गया है। इसके साथ ही साथ प्राचीन काल के उन पथों का भी स्पष्टरूप से दिग्दर्शन कराया गया है, जो सुदूर पूर्व एवं पश्चिम के देशों को जाते थे।

भारतीय इतिहास पर प्रभाव डालने वाली मुख्य मुख्य भूगौलिक विशेषताओं को भी मान चित्रों में प्रदर्शित किया गया है।

भारतवर्ष के साथ वैदेशिक सम्बन्धों का विस्तार तथा गुरुत्व का निर्देश कर यह सिद्ध किया गया है कि भारतवर्ष कभी भी कोई अभिन्न देश न था, वरन् वह विभिन्न देशों से संलग्न "विशाल शृङ्खला की एक प्रधान कड़ी था।"

प्रस्तुत मान चित्रावली इतिहास के विद्यार्थियों के काम की तो है ही, पर सर्वसाधारण भी इसके द्वारा विशेष लाभ उठा सकते हैं। प्रत्येक ऐतिहासज्ञ के लिए यह एक संग्रहणीय पुस्तक है।

मूल्य २) मात्र